मरें तो सही
पर बुद्धिमत्ता के साथ

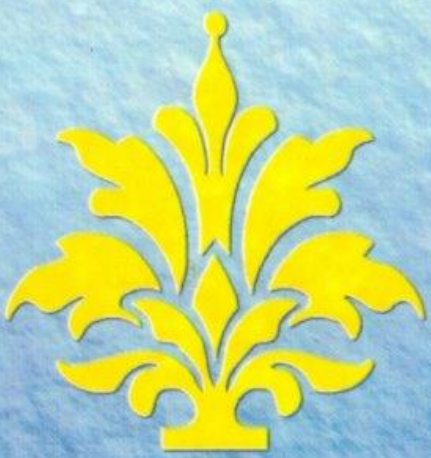

पण्डित श्रीराम शर्मा आचार्य

मरें तो सही,
पर बुद्धिमत्ता के साथ

*

लेखक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०११ मूल्य : १९.०० रुपये

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१. धीरे-धीरे-धीरे आती जाती मृत्यु समीप	३
२. मृत्यु की मीठी—गहरी नींद जरूरी	१८
३. अर्धमृत न रहें, पूर्ण जीवित बनें	२६
४. मरण-सृजन का अभिनव पर्व—उल्लासप्रद उत्सव	३८
५. आसक्ति मनुष्य को मृत्यु के बाद भी घुमाती है	५२
६. मृतात्मा को क्षुब्ध नहीं, तृप्त करें	७८
७. सुदीर्घ विश्राम की अवधि को सार्थक बनाएँ	८६
८. पूर्वजों के प्रति श्रद्धा को क्रिया से जोड़ें	६६

मृत्यु एक सुनिश्चित घटना है, वह होनी है, जो होकर ही रहेगी। मनुष्य के वश में बस इतना ही है कि वह उस घटना को भव्य और गरिमा-युक्त, श्रेष्ठ और शुभप्रद बना सके। अन्यथा अनिच्छा, अनुत्साह और अशांति के साथ ही सही, मरना तो पड़ेगा ही। तब फिर शानदार मौत ही क्यों न मरें ? निश्चित भाव से, शांतचित्त से ही क्यों न मृत्यु देवी का स्वागत करें ?

मुद्रक :

युग निर्माण योजना प्रेस,

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

धीरे-धीरे-धीरे आती जाती मृत्यु समीप

यों कहने को तो सभी कहते हैं कि जो जन्मा है सो मरेगा। इसलिए किसी की मृत्यु पर दुःख मनाते हुए भी यह नहीं कहा जाता है कि यह कोई अनहोनी घटना घट गई। देर-सबेर में आगे-पीछे मरना तो सभी को है, यह मान्यता रहने के कारण रोते-धोते अंततः संतोष कर ही लेते हैं। जब सभी को मरना है तो अपने स्वजन-संबंधी ही उस काल-चक्र से कैसे बच सकते हैं ?

लोक मान्यताओं की बात दूसरी है, पर विज्ञान के लिए यह प्रश्न काफी जटिल है। परमाणुओं की तरह जीवाणु भी अमरता के सन्निकट ही माने जाते हैं। जीवाणुओं की संरचना ऐसी है, जो अपना प्रजनन और परिवर्तन क्रम चलाते हुए मूलसत्ता को अक्षुण्ण बनाए रहती है। जब मूल इकाई अमर है तो उसका समुदाय-शरीर क्यों मर जाता है ? उलट-पुलटकर वह जीवित स्थिति में ही क्यों नहीं बना रहता ? उनके बीच जब परस्पर सघनता बनाए रहने वाली चुंबकीय क्षमता का अविरल स्रोत विद्यमान है, तो कोशाओं के विसंगठित होने और बिखरने का क्या कारण है ? थकान से गहरी नींद आने और नींद पूरी होने पर फिर जग पड़ने की तरह ही मरना और मरने के बाद फिर जी उठना क्यों संभव नहीं हो सकता ?

बैक्टीरिया से लेकर अमीबा तक के दृश्यमान और अदृश्य जीवधारी अपने ही शरीर की उत्क्रांति करते हुए अपनी ही परिधि में जन्म-मरण का चक्र चलाते हुए प्रत्यक्षतः अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाए रहते हैं। फिर बड़े प्राणी ही क्यों मरते हैं ? मनुष्य को ही क्यों मौत के मुँह में जाने के लिए विवश होना पड़ता है ? इस प्रश्न के उत्तर में जर्मनी के जीव-विज्ञानी ऑगस्ट बीजमान का कथन है कि जीव विकास की प्रगति-शृंखला में प्राणियों का मरण

तब से प्रारंभ हुआ, जब उनमें मेरुदंड और मस्तिष्क का विकास-विस्तार आरंभ होने लगा। मेरुदंड भी वस्तुतः मस्तिष्क का ही एक पूँछ जैसा भाग है। मरण को कभी नाड़ी या हृदय की धड़कन के साथ जोड़ा जाता था, पर अब जीवन सत्ता में प्रधानता मस्तिष्क की ही मानी जाती है। हृदय समेत अन्य अवयव उसी के आज्ञानुवर्ती माने जाते हैं। अन्य अवयवों के निश्चेष्ट हो जाने पर भी यदि मस्तिष्क में किसी प्रकार की हलचल विद्यमान है, तो प्रत्यक्षतः उसे मृतक घोषित किए जाने पर भी उसमें जीवन का अस्तित्व माना जाता है और पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया जाता है। मरने वालों में से बहुत-से घोषित मृत्यु के दस मिनट पश्चात् तक मस्तिष्कीय दृष्टि से जीवित पाए गए हैं और कृत्रिम धड़कन एवं श्वास-प्रश्वास की व्यवस्था करके उनके प्राण लौटाने के लिए प्रयत्न किए गए हैं। इनमें से कितनों को ही जीवित करने में सफलता भी मिल गई है।

मृत्यु भी प्रगतिक्रम की एक सीढ़ी कही जा सकती है। जड़ता में स्थायित्व है। परमाणु और तरंगों की सत्ता में ऊर्जा और हलचल तो है, पर मरण नहीं है। आरंभिक स्तर के जीवधारियों में भी मरण-संकट नहीं है। जीवाणुओं से लेकर एकेंद्रिय जीवों तक अपनी सत्ता बनाए रहते हैं। यों मरण का क्रम तो चलता रहता है, पर इससे उनके अस्तित्व के लिए चुनौती उत्पन्न नहीं होती। वे बिना टकराए और बिना किसी महत्त्वाकांक्षा के प्रकृति के प्रवाह क्रम में बहते रहते हैं। महत्त्वाकांक्षाएँ जहाँ प्रगति में सहायक हैं, वहाँ उनमें यह खतरा भी मौजूद है कि प्रकृति ऐसे प्राणियों को अपनी सुव्यवस्था में बाधक समझती और उन्हें जल्दी ही अपना बिस्तर गोल करने के लिए रास्ता साफ करती हैं। मनुष्य के लिए मृत्यु-संकट संभवतः इसीलिए अन्य प्राणियों की तुलना में अधिक जटिल और कष्टकर बन गया है।

बीमारियों से मनुष्य का घिरा रहना भी उसका प्रकृति को चुनौती देने का ही दंड—दुष्परिणाम है। उपभोग की मर्यादाओं का

उल्लंघन कर शरीर संरचना के अनुरूप आचार-संहिता न अपनाने से स्वास्थ्य-संकट उत्पन्न होता है और उसकी दुःखद प्रतिक्रिया आए दिन बीमार रहने के रूप में भुगतनी पड़ती है। जितना सरल, सौम्य, हल्का और आवेश-उत्तेजनाओं से रहित जीवन जिया जायेगा, उतना ही मृत्यु का भय और कष्ट हलका होता जायेगा।

मौत भयानक या अवांछनीय ही हो, ऐसी बात नहीं। कई बार तो वह जीवन से भी अधिक मूल्यवान्, सुखद और सत्परिणाम उत्पन्न करने वाली होती है। देश की सुरक्षा के लिए युद्ध क्षेत्र में जाने वालों में से कितनों को ही अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ता है और वे उच्च आदर्शों के लिए इस प्रकार प्राण गँवाते हुए गर्व-गौरव का अनुभव करते हैं। उनकी इस वीरगति के लिए लोक-श्रद्धा भी बरसती है। लोकहित के लिए प्रयत्नशील महामानवों में से कितनों को ही कठिनाइयों से जूझते हुए अकाल मृत्यु का ग्रास होना पड़ता है। कितने ही ईसा, सुकरात, गाँधी आदि की तरह प्रतिपक्षियों द्वारा मौत के घाट उतार दिए जाते हैं। गीता कहती है कि ऐसा मरण भाग्यवानों को ही उपलब्ध होता है। क्षत्रिय धर्म में अनीति से संघर्ष करते हुए मिलने वाले मरण को यश और स्वर्ग देने वाला कहा गया है। मौत यदि बुरी ही होती तो उसे हर कोई कष्टकर ही अनुभव करता। तब गोली और फाँसी के सामने दौड़ते हुए चले जाने के लिए कोई तैयार ही न होता, वीर बलिदानियों की परंपरा ही समाप्त हो जाती।

कई बार तो जीवन और मौत के बीच कौन सुखद है ? यह चुनने में मनुष्य को मौत के पक्ष में अपना निर्णय देना पड़ता है। आत्महत्याएँ उसी प्रकार के निर्णय का परिणाम होती हैं। समाज उसे किस दृष्टि से देखता है और कानून उसे कितना अवांछनीय दंडनीय मानता है ? यह दूसरी बात है, पर जो इस प्रकार के भयानक निर्णय करते हैं और जिंदगी से मौत को वरिष्ठ मान बैठते हैं, उनके अपने भी तो कुछ तर्क होने ही चाहिए। भले ही उन्हें जन-विवेक मान्यता न देता हो।

मनोविज्ञान-शास्त्र को सुव्यवस्थित बनाने वाले डॉ० सिगमंड फ्रायड का नाम विश्वविख्यात है। उनकी समझदारी पर कोई अविश्वास नहीं कर सकता। जीवन के अंतिम दिनों में उन्हें जबड़े का कैंसर हो गया था। यह लगातार १६ वर्ष तक चला। इतने समय में उस फोड़े का ३३ बार ऑपरेशन हुआ, फिर भी वे उस असह्य पीड़ा से छुटकारा न पा सके। फलतः उन्होंने मार्फीन की सुई लगा ली और ८३ वर्ष की आयु में स्वेच्छा मरण को गौरवास्पद मानते हुए विदा हो गए।

इसी प्रकार एक असह्य पीड़ा से छटपटाते हुए असाध्य रोगी की दया-भिक्षा स्वीकार करते हुए डॉ० विन्सेट मांट मेरिनो ने स्वेच्छा मरण में सहायता करने वाली औषधि उपलब्ध करा दी थी। रोगी को पाँच मिनट के भीतर ही चिरशांति का लाभ मिल गया। पर कानून ने इसे अपराध ही माना और चिकित्सक को न्यायालय का निर्धारित दंड भुगतना पड़ा। महात्मा गाँधी ने भी साबरमती आश्रम में एक मृत्यु से छटपटाते हुए बछड़े को मरण की सुई लगाने की आज्ञा दे दी थी और उन्हें तीखे जनविरोध का सामना करना पड़ा था।

यहाँ स्वेच्छा मरण के कानूनी और औचित्य पक्ष पर चर्चा नहीं हो रही है। देखा यह जा रहा है कि क्या कोई ऐसा भी समय आ सकता है, जब जीवन से मरण को अधिक उपयुक्त माना जाए ? मृत्यु-दंड के अपराधियों के लिए भी न्याय परंपरा यही निर्धारण करती है कि उनके जीवित रहने की अपेक्षा मरण ही श्रेयस्कर है।

प्रसंग जीवन और मरण में से वरिष्ठता किसे दी जाए ? यह निर्णय करने का है। यहाँ सब कुछ सापेक्ष ही ठहरता है। उपयोगिता ही प्रधान है। न जीवन ही सदा-सर्वदा उत्तम समझा जा सकता है और न मृत्यु को ही सर्वथा हेय ठहराया जा सकता है। दोनों ही अपने-अपने स्थान पर गुण-दोष की कसौटी पर कसे जाने के उपरांत श्रेष्ठ समझे जा सकते हैं।

प्राणियों की इस मनःस्थिति पर आश्चर्य व्यक्त करते हुए महाभारत (वन. ३१३.११६) में महर्षि व्यास कहते हैं—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्।
अन्ये स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्।।

अर्थात्—प्राणियों को निरंतर मृत्यु मुख में जाते हुए आँखों से देखते हुए भी लोग अपनी स्थिरता का भ्रम पाल लेते हैं, इससे बड़ा आश्चर्य और क्या है ?

इस विस्मरण के कारण मृत्यु का नाम सुनते ही साधारण व्यक्ति के होश उड़ जाते हैं और एक क्षण के लिए वह जैसे मर-सा जाता है। मृत्यु से डरने का मानव का स्वभाव-सा बन गया है। साधारण-सा रोग, मामूली-सी घटना, शत्रु का विचार आदि शंकाजनक संयोग आते ही कमजोर आदमी काँप उठता है और सोचने लगता है कि कहीं यह बीमारी हमारे प्राण न ले ले। कहीं वह शत्रु हमें मार डालने की न सोच रहा हो। संभव है, वहाँ जाने से हम किसी घातक घटना के शिकार बन जाएँ। मृत्यु के भय से मनुष्य खाने-पीने और प्रतिकूलताओं से जमकर मोर्चा लेने से डरता रहता है।

यही नहीं, किसी की मृत्यु देखकर किसी दुर्घटना का समाचार सुनकर भी अपनी मृत्यु की शंका से आक्रांत हो जाता है। यहाँ तक कभी-कभी स्वयं भी अकेले में संसार की नश्वरता का विचार आते अथवा अपनी आयु के बीत गए वर्षों पर विचार करने से मृत्यु भय से उद्विग्न हो उठता है। अंधेरे अथवा अपरिचित स्थानों में निर्भयतापूर्वक पदार्पण करने से भी उसे मृत्यु की शंका निरुत्साहित कर देती है। निःसंदेह मृत्यु का भय बड़ा ही व्यापक तथा चिरस्थायी होता है।

किंतु, यदि इस मृत्यु भय पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जाए, तो यह बड़ा ही क्षुद्र तथा उपहासास्पद ही प्रतीत होगा। पहले तो जो अनिवार्य है, अवश्यंभावी है उसके विषय में डरना क्या ?

जब मृत्यु अटल है और एक दिन सभी को मरना ही है, तब उसके विषय में शंका का क्या प्रयोजन हो सकता है ? यह बात किसी प्रकार भी समझ में न आने लायक नहीं है। हमारे पूर्वजों की एक लंबी परंपरा मृत्यु के मुख में जा चुकी है और आगे भी आने वाली प्रजा उनका अनुसरण करती ही जायेगी, तब बीच में हमें क्या अधिकार रह जाता है कि उस निश्चित नियति के प्रति भयाकुल अथवा शंकाकुल होते रहें। मृत्यु को यदि जीवन का अंतिम एवं अपरिहार्य अतिथि मानकर उसकी ओर से निश्चिंत हो जाएँ, तो न जाने अन्य कितने भयों से हम अनायास ही मुक्ति पा जाएँ।

आवश्यकता मृत्यु से डरने की नहीं है और न ही उस अनिवार्य वास्तविकता की उपेक्षा करने की है। मृत्यु निश्चित है, लेकिन इसलिए तो उसकी चिंता व्यर्थ है। जो निश्चित है, उसकी चिंता कैसी ? उसके प्रति तो निश्चिंत ही रहना चाहिए। हाँ, उसकी निश्चिंतता का स्मरण सदैव रखना चाहिए। मृत्यु से न तो डरें और न ही उसे भूलने की कोशिश करें, अपितु मृत्यु को जानें, समझें और स्मरण रखें। साथ ही जीवन को भी जानें तथा स्मरण रखें। अधिकांश लोग न तो जीवन की भव्यता का स्मरण रख पाते, न ही मृत्यु के गौरव को समझ पाते हैं। मृत्यु अनायास आने वाली एक निश्चित घटना है और जीवन अनवरत् बहने वाला एक अनंत चेतना-प्रवाह है, ये दोनों ही तथ्य सदा स्मरण रखने योग्य हैं।

○ शरीर क्षय की आंतरिक क्रियाएँ

शरीर-रचना जिन सूक्ष्म परमाणुओं से हुई है, उन्हें 'जीव-कोश' कहते हैं। जीव-कोशों से भरा हुआ कलल जीवन-रस (प्रोटोप्लाज्मा) कहलाता है। यह रस तेईस मौलिक तत्त्वों से बना है। इसी को जीवन का मूल आधार समझना चाहिए। मोटे तौर पर यह तत्त्व आहार से मिलते हैं। पर यह प्रतिपादन भी अपूर्ण है, क्योंकि जो तत्त्व आहार में होते ही नहीं, वे फिर जीवन-रस को कैसे प्राप्त

होंगे ? आश्चर्य यह है कि वे सभी तत्त्व जीवन-रस को उपलब्ध होते रहते हैं। भले ही आहार में उनका अभाव रहता हो।

जीव-कोश बढ़ते हैं और फिर एक से दो होते रहते हैं। जब तक यह वृद्धि एवं उत्पत्ति का क्रम चलता रहेगा, तब तक शरीर भी बढ़ता रहेगा। यह वृद्धि-उत्पत्ति रुकते ही शरीर की अभिवृद्धि भी रुक जाती है। इस प्रक्रिया में जब निर्बलता या गड़बड़ी उत्पन्न होती है, तो उसी क्रम से शरीर भी कमजोर या बीमार पड़ता है। अंतरंग कोशीय जीवन पर ही बाह्य जीवन-मरण निर्भर है। जैसे-जैसे हमारी आयु बढ़ती है, अवयवों की थकान, घिसाव या विकृति भी बढ़ती है। इसका प्रभाव कोशों पर पड़ता है, उनकी बाहरी शकल तो यथावत् बनी रहती है, पर भीतर का 'जीवन-रस' घटता और सूखता जाता है, उसकी ताजगी और सशक्तता भी घटती जाती है, यही बुढ़ापे का कारण है। जब जीवन-रस अधिक घट जाता है या निकम्मा हो जाता है तो जीव-कोश मरने लगते हैं, यही मृत्यु का कारण है। देर में या जल्दी जब भी मौत होगी—किसी भी कारण से होगी, शरीर के भीतर यही स्थिति पाई जायेगी।

बनारस हिंदू विश्वविद्यालय ने डॉक्टर कानूनगो के नेतृत्व में इस प्रकार के अध्ययन के लिए एक टोली नियुक्त की थी कि बुढ़ापे के लिए जिम्मेदार बताए जाने वाले एंजाइमों, हारमोनों, ऊतकों, कोशिकाओं, रासायनिक तत्त्वों एवं मनोभावों का इस संदर्भ में कितना हाथ है। अध्ययन से पता चला—

(१) देखा गया है कि आयु वृद्धि के साथ-साथ चयापचय एवं न्यूरोह्यूमोरल नियमन प्रणाली में परिवर्तन होने लगता है और कोमलता का स्थान कठोरता लेने लगती है। यहीं से बुढ़ापा प्रारंभ होता है। बालक की कोमलता किशोर अवस्था में घट जाती है और वह अपेक्षाकृत कठोर दीखने लगता है। यह बुढ़ापे का ही प्रारंभिक रूप है।

(२) आनुवांशिकी-सिद्धांत के अनुसार पैतृक जीन्स भी अल्पायु, दीर्घायु, जरायुक्त यौवन और यौवनयुक्त जरा के लिए

जिम्मेदार हैं। माता से २३ और पिता से २३ इस प्रकार ४६ गुणसूत्रों में जुड़े हुए असंख्य 'जीन्स' शरीर में विद्यमान रहते हैं। इनमें भी वे बीज विद्यमान रहते हैं, जो जवानी को देर तक बनाए रहें अथवा नई उम्र में ही बुढ़ापा खड़ा कर दें।

(३) संयोजी ऊतक हमारे सारे शरीर में फैले हैं। उनकी संख्या हड्डियों के सिरों से जुड़ी हुई मांसपेशियों में सबसे अधिक होती है। यह जोड़ ही हड्डियों का नियंत्रण करते हैं। इन संयोजी ऊतकों में तीन अघुलनशील प्रोटीनें पाई जाती हैं—(१) कोलेजन (२) इलेस्टिन (३) रेटीकुलीन। इनमें से कोलेजन शरीर का एक-तिहाई भाग बनाती है और कोशिकाओं के बीच जोड़ का काम करती है। यह उपयोगिता होते हुए भी जब उसकी मात्रा बढ़ने लगती है, तो अमिनो अम्ल उभरता है और शरीर पर झुर्रियाँ पड़ने लगती हैं।

(४) हमारे शरीर में प्रतिदिन अगणित कोशिकाएँ जन्मती और मरती हैं, किंतु मस्तिष्क की तांत्रिक कोशिकाओं के बारे में यह बात नहीं है। उनका पुनर्निर्माण नहीं होता। मस्तिष्क में कोशिकाएँ प्रति घन सेंटी मी० एक करोड़ के अनुपात में पाई जाती हैं। वे प्रति घंटे एक हजार की औसत से मरती रहती हैं। इस प्रकार यह पूँजी क्रमशः घटती रहती है। बहुधा जीवन-काल में ही १० प्रतिशत मस्तिष्क घट जाता है। यह पूँजी समाप्त होते चलने से शरीर पर मनःचेतना का नियंत्रण घटता चलता है और वह भी बुढ़ापे का निमित्त बन जाती है।

(५) हृदय, शिराएँ, पेशियाँ, ग्रंथियाँ, तांत्रिकी मृच्छिकाएँ जैसे महत्त्वपूर्ण संस्थान को समर्थ बनाए रखने वाले रासायनिक पदार्थ घट जाते हैं। आयु वृद्धि के साथ-साथ एड्रिनेलिन, थायरोक्सिन, कोर्टिसोन, डिसौक्सीकौर्टिकोटरीन इन्सुलीन, सैक्स हारमोनों जैसे तत्त्वों की कमी होने से वे अंग शिथिल पड़ जाते हैं। मस्तिष्क के अधःचेतन भाग हाईपोथेलेमस का नियंत्रण ढीला हो जाता है और यह बिखराव बुढ़ापे

के रूप में प्रकट होता है। मस्तिष्कीय विद्युत् तरंगें—अल्फा वेव—तब मंद हो जाती हैं और बाल सफेद होने लगते हैं।

(६) डी० एन० ए० अणु शरीर की प्रोटीनों का ढाँचा बनाता है। वह आयु वृद्धि के साथ-साथ भटकना शुरू करता है, फलस्वरूप प्रोटीन की बायोसिंथेसिस प्रणाली लड़खड़ाने लगती है और बुढ़ापा आ घेरता है।

सोचा यह जा रहा है कि उपरोक्त अवरोधों को देर तक शरीर तंत्र में प्रविष्ट होने से रोकने के लिए क्या उपाय अपनाए जाएँ ? रहन-सहन की, आहार-विहार की क्या पद्धति निर्धारित की जाए ताकि विकृतियों का क्रम न्यूनतम बना रहे और यौवन की स्थिरता देर तक बनी रहे।

जीन फिनोल ने अपनी पुस्तक 'दि फिलोसोफी ऑफ लॉङ्ग लाइफ' में लिखा है—"मृत्यु की दिशा में आधी यात्रा हम स्वाभाविक रीति से करते हैं और आधी अस्वाभाविक रीति से। स्वाभाविक वह है, जिसमें एक नियत क्रम से वृद्धावस्था आती है और परिपक्व आयु भोगकर शरीर मृत्यु की गोद में चला जाता है। असमय बुढ़ापा हम ही बुलाते हैं। अस्वाभाविक वह जिसमें मनुष्य छोटी-मोटी बीमारियों के समय, बढ़ती आयु का लेखा-जोखा रखते हुए अपनी आयु के मरने वालों की लिस्ट बनाकर यह सोचता रहता है कि अब मृत्यु का समय नजदीक आ गया। यह मान्यता यों महत्त्वहीन मालूम पड़ती है, पर सच्चाई यह है कि वह अंत में मन में एक सुनिश्चित संकल्प बनाकर बैठ जाती है और मृत्यु को जल्दी ही कहीं से पकड़कर ले आती है। संकल्पों से परिस्थितियों का उत्पादन एक सुनिश्चित सत्य है, अतएव समय से पूर्व अस्वाभाविक मृत्यु के मुख में चला जाना भी एक यथार्थता ही है।

वैज्ञानिक विश्लेषण के अनुसार मनुष्य एक अग्नि पिंड की तरह, जलते हुए दीपक की तरह है। आग ऑक्सीजन खाती है और कार्बन डाय ऑक्साइड गैस उगलती है। बिल्कुल यही क्रम मनुष्य का भी है। उसकी श्वास-प्रश्वास क्रिया इसी क्रिया को संपन्न करती है। हमारा

शरीर—जीवन भी एक दिव्य अग्नि की तरह ही ज्वलंत है। इस भट्ठी में यदि उपयुक्त ईंधन पड़ता रहे और उन कारणों से बचा जा सके, जो उसे ठंडी कर देते हैं, तो फिर मरने में आमतौर से जो उतावली हो जाती है—वह न हो और देर तक जीवित रह सकना संभव हो जाए।

देर तक जीवित रह सकने के महत्त्वपूर्ण आधार जिंदगी के साथ जुड़े हुए हैं, यदि उन्हें ठीक तरह सँभाले-सँजोए रखा जा सके। उद्धत आचरण और उच्छृंखल विचारों से बचा जा सके, तो न केवल देर तक वरन् सुखपूर्वक जीवित रहने का आनंद बिना किसी अड़चन के लिया जा सकता है। मौत को समीप लाने वाले कारण यों समय-समय पर सामने आते रहते हैं, पर वे ऐसे नहीं हैं, जिन्हें निरस्त न किया जा सके। हम भीतर से हारते हैं तो बाहर से भी पराजय ही आ घेरती है। भीतर से थकते हैं तो चारों ओर से निराशा और असफलता की घटाएँ घिरती चली आती हैं।

असमय मरण और कुछ नहीं हमारी निरंतर की भूलों का ही दुष्परिणाम है। यदि सतर्कता बरती जाए तो हम शताब्दियों तक जी सकते हैं और अंतिम साँस तक हँसते-खेलते उल्लासपूर्ण मनःस्थिति में रह सकते हैं। ध्यान यदि आंतरिक संतुलन का रखा जा सके, तो बाहरी क्रियाकलाप में रहने वाली अवांछनीय भूलें सहज ही घटती और मिटती चली जाएँगी।

बुढ़ापा आयु के आधार पर नहीं, विचारों के आधार पर आता है। यदि ऐसा न होता तो तीस वर्ष में लोग बूढ़े और सत्तर वर्ष के जवान क्यों दिखाई पड़ते ?

वैज्ञानिक जेक्त लूवे ने कितने ही प्राणियों का शारीरिक तापमान गिराकर, उसकी प्रतिक्रिया का अध्ययन किया और पाया है कि इससे इनका जीवन काल आश्चर्यजनक रूप से बढ़ गया। उनका कथन है कि यदि मनुष्य का स्वाभाविक तापमान ९८.६ से घटाकर आधा अर्थात् ४९.३ किया जा सके, तो आयु २० गुनी बढ़ सकती है। ७० वर्ष जीने योग्य शरीर को १४०० वर्ष जिंदा रखा जा सकता है।

मानवी जीवकोशों की सुदृढ़ता को परखते हुए कोलंबिया विश्वविद्यालय के डॉ० एच० एस० सिक्स ने कहा है कि यदि स्नायु उत्तेजना और रासायनिक विकृतियों से शरीर की रक्षा की जा सके, तो मनुष्य की संरचना उसे ८०० वर्ष तक जीवित रहने का अवसर दे सकती है।

कार्नेट विश्वविद्यालय के मनोविज्ञान विभाग ने अपने परीक्षणों से यह निष्कर्ष निकाला है कि शारीरिक श्रम की तुलना में नीरस मानसिक श्रम से कहीं अधिक थकान आती है।

खाद्य-पदार्थों में पाई जाने वाली ऊष्मा जिसे 'कैलोरी' कहते हैं, यदि कम मात्रा में मिले तो थकान आयेगी। यह मान्यता भी अभी पूर्णतया निरस्त नहीं हुई है। पिछली शताब्दी के यह निष्कर्ष अभी भी दुहराए जाते हैं कि भोजन में ऊष्मा की मात्रा समुचित हो तो थकान से बचा जा सकता है और बुढ़ापा वस्तुतः थकान ही है।

यह माना जाता है कि १५० पौंड वजन का कोई व्यक्ति सोते समय ६५ कैलोरी प्रति घंटा खर्च करता है। लेटे रहने में ७७, पढ़ने में १००, टाइप करने जैसे कामों में १४५ चलने-फिरने में २०० और कड़ा परिश्रम करने में ३०० कैलोरी प्रति घंटा के हिसाब से खर्च होती है।

डॉ० वाल्डविन के अनुसार मनुष्य शरीर का तापमान तो ९८.६ डिग्री रहता है, पर उसे अनुकूल ६८ डिग्री तापमान का वातावरण ही पड़ता है। इससे अधिक ठंडक या गर्मी होने पर उसकी कैलोरी शक्ति अधिक मात्रा में खर्च होने लगती है और थकान जल्दी चढ़ती है। डॉ० डीनाल्ड ए० लेयर्ड के अनुसार कोलाहल भरे वातावरण में रहने वाले मनुष्य को २० प्रतिशत थकान उस शोरगुल के कारण ही चढ़ती रहती है।

मेयो क्लीनिक के डॉ० केंद्रिल ने कहा है कि चिड़चिड़ापन मनुष्य की थकान का सर्वविदित चिह्न है। लेही क्लीनिक के डॉ० एलेक का मत भी यही है—वे कहते हैं, चिड़चिड़ा मनुष्य दया का पात्र है, क्योंकि वस्तुतः वह गहरी थकान का मरीज होता है।

उस पर क्रोध करने या बदला लेने से तो इस मरीज का और भी अहित होगा। थकान बढ़ेगी और बुढ़ापे की रफ्तार तेज होगी।

जीव विज्ञानियों के अनुसार मृत्यु एक प्रकार की अत्यधिक गहरी थकान अथवा इतनी प्रगाढ़ निद्रा है, जिसमें गिरने के बाद फिर जाग्रत् हो सकना संभव नहीं हो पाता। यदि इस थकान को दूर करने जितने समय तक सुरक्षित विश्राम की व्यवस्था बन जाए और जागने की अवधि तक शरीर के जीवाणुओं को मरने, सड़ने या सूखने से बचाया जा सके, तो मृत्यु के बाद फिर कुछ समय के लिए जी उठना संभव हो सकता है।

चेतना मरती नहीं, थक जाती है। बुढ़ापे के कारण नाड़ी-संस्थान की लचक घट जाती है, कोशिकाओं का नवीनीकरण-क्रम शिथिल हो जाता है। शरीर यंत्र उन्हीं कारणों से कठोर एवं शिथिल होता चला जाता है। जीवनी शक्ति का इसी क्रम से ह्रास होता है और धीरे-धीरे बढ़ती हुई जराजीर्ण अवस्था मृत्यु के समीप तक जा पहुँचती है। इस कठोरता एवं शिथिलता की गति जितनी मंद होगी, उतने ही अधिक समय तक जीवित एवं सक्रिय रहा जा सकेगा। थकान धीरे-धीरे पैदा हो—दीर्घजीवन का प्रधान सूत्र यही है। प्रगाढ़ विश्राम की सुविधा बीच-बीच में इस प्रकार मिलती रहे कि पिछले दिनों की क्षति को पूरा किया जा सके तो फिर यह संभव हो जायेगा कि बहुत लंबे समय तक जीवन बना रहे। हर रात को सोने और हर सबेरे उठने का क्रम एक मध्यावधि मरण एवं पुनर्जीवन ही तो है, उसी सामान्य क्रम को विशेष उपचार से दीर्घकालीन बनाया जा सके, तो कोशिकाओं पर छाई हुई थकान से उत्पन्न जरठता का निवारण हो सकता है और बूढ़े का फिर से जवान बन सकना शक्य बन सकता है।

तीस वर्ष तक हमारा शरीर निरंतर बढ़ता है। इसके बाद वह क्रमशः घटता चला जाता है। यह घटोत्तरी ही अंततः हमारी मृत्यु का कारण बनती है। संचित कोश समाप्त होने पर ही मृत्यु होती है।

३० वर्ष से ६० वर्ष की आयु की अवधि में हमारी मांसपेशियों का भार लगभग एक-तिहाई कम हो जाता है। उसी अनुपात से शक्ति

घटती चलती है। इस बीच वृद्धावस्था के अंतिम चरण में तीन-चौथाई तंत्रिका तंतु समाप्त हो जाते हैं और एक-चौथाई ही बचते हैं। इसलिए मस्तिष्क का शरीर पर उतना नियंत्रण नहीं रह जाता, जितना आवश्यक है। दिमाग एक-तिहाई खराब हो जाता है। उसका वजन ३०३ पौंड से घटकर २.२२ पौंड ही रह जाता है। गुर्दों में मूत्र साफ करने वाले 'नेफोन' घटकर आधे रह जाते हैं, जिससे वह पूरी तरह साफ नहीं हो पाता और रक्त में उस अशुद्धता की मात्रा बढ़ती जाती है। काम करते-करते थक और घिस जाने के कारण ज्ञानेंद्रियाँ अपना आवश्यक उत्तरदायित्व वहन नहीं कर पातीं, उन्हें पोषक तत्त्व भी शुद्ध तथा उपयुक्त मात्रा में मिल नहीं पाते, इसलिए उनकी रगड़ की क्षति-पूर्ति भी नहीं हो पाती।

२५ साल के युवक की तुलना में ८० साल के बूढ़े का दिल प्रायः आधी मात्रा में खून पंप कर पाता है। यही हालत फेफड़ों की होती है, साँस की सफाई करने में वे अपनी ड्यूटी आधी ही दे पाते हैं। तंत्रिका तंतुओं में विद्युत् आवेग की दौड़ २० प्रतिशत शिथिल हो जाती है, इसलिए शरीर द्वारा मस्तिष्क को सूचना पहुँचाने में और वहाँ का संदेश अंगों के लिए लाने में देर लग ज़ाती है। स्थिति के अनुरूप तुरंत निर्णय लेने या कदम उठाने में बुढ़ापा धीरे-धीरे शिथिलता ही उत्पन्न करता चला जाता है। यही सब कारण हैं जिनसे हम ढलती आयु में क्रमशः मृत्यु के निकट घिसटते चले जाते हैं। शक्ति की कमी, कल-पुर्जों का घिस जाना, संचित पूँजी का खर्च, नए उत्पादन में शिथिलता एवं मलों का बढ़ते जाना शरीर के लिए मरण ही प्रस्तुत करेगा। बुढ़ापा जीवन को मृत्यु के पथ पर धकेलने—ले चलने वाली एक ऐसी निर्मम प्रक्रिया है, जिससे बच सकना कठिन दीखता है। बुढ़ापा न टला तो मृत्यु कैसे टलेगी ? दोनों एक-दूसरे के सगे-सहोदर जो हैं।

कोशिकाओं में चलती रहने वाली रासायनिक क्रिया में विषाक्त पदार्थों का अनुपात बढ़ते जाने और प्रोटीन का चालीस प्रतिशत भाग **कोलाजेन** में बदल जाने से जीवन-संकट बढ़ता ही जाता है। त्वचा के

नीचे का **कोलाजेन** कठोर होता जाता है। फलस्वरूप चमड़ी पर झुर्रियाँ पड़ने लगती हैं। दाँतों का गिरना, बालों का झड़ना यह प्रकट करता है कि भीतर की पकड़ ढीली होती जा रही है।

शारीरिक और मानसिक शक्तियों के अनावश्यक अपव्यय को रोकने के लिए सीधा, सरल, सौम्य और हल्का-फुल्का जीवन जिया जाना चाहिए; इसके लिए पौष्टिक औषधियों की तलाश बेकार है। सबसे बड़ी औषधि एक ही है कि जीवन को भारी, बोझिल और कृत्रिम न बनने दिया जाए। अपव्यय को रोका जा सका, तो लंबे समय तक युवावस्था को भी सुरक्षित बनाए रखा जा सकता है।

केवल दीर्घ जीवन ही संभव नहीं वरन् यह भी संभव है कि ढलती आयु में भी सशक्त यौवन को स्थिर रखा जा सके। शरीर में आयु की वृद्धि के साथ कुछ तो परिवर्तन होते हैं, पर यह मानवी प्रयत्नों पर निर्भर है कि वह शिथिलता से अपने को बचाए रहें और वृद्ध होते हुए भी अशक्त न बनें।

वारजन विवारेस निवासी पियर डिफोरवेल १२६ वर्ष का होकर सन् १८०६ तक जीवित रहा। मरते समय उसका स्वास्थ्य ठीक था और उसकी सभी इंद्रियाँ अपना काम ठीक तरह करती थीं। उसने तीन विवाह किए और कितने ही बच्चे पैदा हुए, उनमें से तीन बच्चे ऐसे भी थे, जिन्हें तीन पृथक् शताब्दियों में पैदा हुआ कहा जाता है। एक बच्चा १६६६ में दूसरा १७३८ में तीसरा १८०१ में जन्मा, यों यह अंतर लगभग सौ वर्ष ही होता है, पर शताब्दियों के हिसाब से इसे तीन शताब्दियों में भी गिना जा सकता है और साहित्यिक शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि उसका एक बच्चा १६वीं शताब्दी में, दूसरा १७वीं में और तीसरा अठारहवीं में जन्मा। उसकी तीसरी पत्नी १६ वर्ष की थी, जबकि डिफोरवेल १२० वर्ष का था। यह तीसरा दांपत्य जीवन भी उसने प्रसन्नतापूर्वक बिताया। पत्नी को इसमें कोई कमी दिखाई न दी। यह विवाह नौ वर्ष तक सुखपूर्वक चला और उसमें कई बच्चे हुए।

उपरोक्त तीन शताब्दियों में जन्मे तीन बच्चों की जन्म तिथियाँ उनके प्रमाणपत्रों समेत सन् १८७७ के 'मेगासिन पिटारेस्क' में छपी है। जो घटनाक्रम की यथार्थता प्रकट करते हुए यह भी सिद्ध करती है कि दीर्घजीवन ही नहीं, यौवन को भी अक्षुण्ण बनाए रहना संभव है—असंभव नहीं।

बहुत दिन से यह सोचा जा रहा है कि आयु वृद्धि के साथ-साथ हारमोन उत्पादन में जो असंतुलन उत्पन्न हो जाता है, उसकी पूर्ति कर देने से संभवतः शरीर की क्षरण-प्रक्रिया रुक सकती है और अधिक समय तक जिया जा सकता है। इस संदर्भ में प्रयोग और परीक्षण भी चले हैं। ब्रिटेन के विज्ञानी सर विन्सेंट विगल वर्थ ने रोड्स नामक एक छोटे कीड़े पर यह प्रयोग किया। उन्होंने अपनी जाति के एक युवा कीड़े की एक्डायोसोन हारमोन उत्पन्न करने वाली ग्रंथि एक-दूसरे बूढ़े कीड़े के शरीर में लगा दी। इससे उसका बुढ़ापा रुक गया। जब भी शिथिलता के लक्षण दिखाई पड़ते, तभी नई ग्रंथि लगा दी जाती, इस प्रकार उसकी वृद्धि और जवानी का क्रम काफी लंबे समय तक बनाए रखने में सफलता पाई गई।

मनुष्य शरीर में आयु वृद्धि के साथ घटने वाले एक हारमोन समूह को 'स्टेरोइड' कहते हैं। इसकी क्षति-पूर्ति अन्यत्र से की जाए तो संभव है मनुष्य की जवानी बनी रहे। इसी प्रकार 'टेस्टोस्टेरीन' हारमोन का किसी प्रकार प्रवेश अथवा परिवर्धन किया जा सके, तो आदमी जवान बना रह सकता है। इन संभावनाओं को ध्यान में रखकर वैज्ञानिक तरह-तरह के अनुसंधान कर रहे हैं।

वैज्ञानिक एक प्राणी की हारमोन ग्रंथियाँ दूसरे को लगाने का प्रयत्न कर रहे हैं। उनका प्रभाव स्वल्पकालीन होता है। यौवन को अक्षुण्ण बनाए रहने वाले हारमोन बिना एक-दूसरे के अंग प्रत्यारोपण के भी विकसित किए जा सकते हैं। इसके लिए योगाभ्यास की वही परिपाटी उपयुक्त है, जिसे ऋषि-महर्षि कायाकल्प के नाम से प्रयोग करते थे और शताब्दियों तक जीवित रहते थे।

❐ ❐

मृत्यु की मीठी—गहरी नींद जरूरी

दीर्घजीवन के दो प्रमुख आधार यह माने जाते हैं कि श्वास धीमे लिए जाएँ तथा शीत वातावरण में रहा जाए। योगी लोगों की प्राणायाम क्रिया तथा हिम-कंदराओं में निवास को प्रमुखता देने का एक कारण यह भी है कि वे शरीर को अमर या दीर्घजीवी बनाकर अपना और पराया अधिक श्रेय साधन कर सकें।

रीछ, सर्प, कछुए, मेंढक शीत ऋतु आने पर अपने को सिकोड़कर बैठ जाते हैं। ताप की तीव्रता से जो शक्ति का क्षरण होता है, वह उन दिनों न होने से जीव निराहार पड़े रहते हैं। गति शरीर-संचालन भर के लिए आवश्यक है। यदि उसे अव्यवस्थित ढंग से खर्च किया जाए, तो साँसें तेज चलने लगेंगी और उससे दीर्घ जीवन में कमी आ जाएगी।

सृष्टि विज्ञान पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि जिन जीवों का श्वास-संचालन मंद गति से होता है, वे अधिक दिनों जीवित रहते हैं, इसके विपरीत जिनकी साँसें तेजी से चलती हैं, वे कम समय जी पाते हैं। इस संबंध में प्रति मिनट साँस लेने और आयुष्य प्राप्त करने संबंधी अनुमानित विवरण इस प्रकार है—कछुआ साँस ५ आयु १५० वर्ष। सर्प साँस ८ आयु १२० वर्ष। हाथी १२ आयु १०० वर्ष। मनुष्य १२ आयु १०० वर्ष। घोड़ा १८ आयु ५० वर्ष। बिल्ली २५ आयु १२ वर्ष। बकरी २५ आयु १२ वर्ष। कबूतर ३६ आयु ६ वर्ष। खरगोश ४० आयु ७ वर्ष।

नृतृत्व विज्ञानवेत्ता बताते हैं कि प्राचीन काल में मनुष्यों की श्वास-प्रश्वास संख्या ११-१२ थी, पर अब मानसिक उत्तेजना एवं शारीरिक उष्णता से—आहार-विहार की अव्यवस्था एवं बौद्धिक उद्वेगों से परिस्थिति बदल गई और आदमी अधिक गरम रहने

लगा। फलस्वरूप श्वास-संख्या बढ़कर १५-१६ प्रति मिनट पहुँच गई है। जल्दबाज, उद्विग्न, आवेश-ग्रस्त, सामर्थ्य से अधिक काम करने वाला, तनाव भरा जीवन वस्तुतः गरम जीवन ही कहा जा सकता है। धैर्यवान्, शांत-चित्त, दूरदर्शी प्रवृत्ति के मनोविकारों एवं इंद्रिय उत्तेजनाओं को नियंत्रण में रखने वाले—आहार-विहार में सात्त्विकता बरतने वाले ही—शांत एवं शीत प्रकृति के कहे जा सकते हैं। उन्हीं का हृदय, फेफड़ा, स्नायु-संस्थान तथा रक्त-प्रवाह सौम्य, शांत एवं स्वाभाविक रीति से काम करता है। फलतः उनकी आयु भी लंबी होती है। गर्मागर्म गर्मी से भरे हुए लोग जल्दी उफनते और जल्दी चलते हैं। उनकी आयुष्य कम हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

शीतऋतु और ठंडे वातावरण का भी स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है। ठंडे देशों के मनुष्य अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ, सुडौल एवं दीर्घजीवी होते हैं। गर्म देशों के लोग दुर्बल भी पाए जाते हैं और अल्पायु भी। इसमें हम भारतवर्ष के ही पंजाब और बंगाल के लोगों की शारीरिक तुलना करके सहज ही जान सकते हैं। रूस के उजबेकिस्तान प्रांत में लोग अधिक दीर्घजीवी पाए जाते हैं, इसमें वहाँ के जलवायु की सौम्य-शीतलता ही प्रधान कारण है। लोग तपश्चर्या के लिए हिमालय जाते हैं। बड़े लोग आमोद-प्रमोद के लिए गर्मी के दिनों में ठंडी जलवायु के स्थानों में चले जाते हैं। शीतऋतु तथा वातावरण का निस्संदेह स्वास्थ्य पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। इतना ही नहीं, ठंडे स्वभाव एवं सात्त्विक आहार-विहार को भी शीत-प्रक्रिया में ही गिना जा सकता है और उस तरह का जीवन क्रम बनाने वाले स्वभावतः अधिक दिन जीते हैं।

रेफ्रीजरेटरों में रखी रहने वाली खाद्य-सामग्री तथा दवाएँ खराब नहीं होतीं। बर्फ में दबी हुई लाशें मुद्दतों पीछे निकालने पर भी ज्यों की त्यों निकली हैं। वैज्ञानिक मनुष्य काया को देर तक सुरक्षित रखकर थोड़े विश्राम के बाद पुनर्जीवित करने की जो योजना बना रहे हैं, उसमें मृत शरीर को शीत आवरण में बंद करने

की प्रक्रिया ही काम में लाई जायेगी। खगोलशास्त्री ऐसे अति दूरवर्ती ग्रहों पर मनुष्य को भेजने की बात सोच रहे हैं, जिनकी यात्रा में अधिकतम तीव्र गति वाले राकेट को भी जाने और लौटने में एक हजार वर्ष लगेंगे। इतने दिन तक आदमी को कैसे जीवित रखा जाए ? इस संदर्भ में यही सोचा गया है कि यात्री को उस यान में बिठाकर शीत से जमा दिया जाए, फलतः उसकी शक्तियों का क्षरण न होगा और न आयु वृद्धि का कोई प्रभाव पड़ेगा। जब उसे लौटाया जाए, तो पृथ्वी से संकेत-तरंगों द्वारा यान की शीतलता घटा दी जाए, फलतः यात्री जीवित हो जायेगा और एक हजार वर्ष में भी उसकी मृत्यु न होगी। अभी भी प्राणियों के अंगों को विभिन्न प्रयोगों के लिए देर तक सुरक्षित रखने के लिए यह शीतलीकरण प्रक्रिया ही काम में लाई जाती है।

विशिष्ट प्रयासों की यह परंपरा अपने स्थान पर है और मृत्यु की एक सुनिश्चित तथ्य के रूप में विद्यमानता अपनी जगह। सर्वसामान्य के लिए यही शरीर सदा-सर्वदा के लिए अविनाशी बनाए रखना शायद ही कभी संभव हो। अतः मृत्यु को एक अवश्यंभावी घटना मानते हुए, उसकी क्रमिक प्रक्रिया को भली-भाँति समझने की जरूरत है।

तीस वर्ष की आयु से ही मृत्यु की क्रमिक प्रक्रिया आरंभ हो जाती है, यद्यपि यह पूरी तरह कब संपन्न होती है, यह भी शरीर-विज्ञानियों की दृष्टि में विवादास्पद विषय है; किंतु आवश्यकता इसी बात की है कि तीस वर्ष की यौवनावस्था से ही मृत्यु के स्वागत की तैयारी करनी चाहिए, ताकि मृत्यु एक पछतावा नहीं वरन् एक भव्य घटना बन सके।

मृत्यु का भय अधिकतर सताता उन्हीं लोगों को है, जो इस मानव-जीवन का महत्त्व नहीं समझते और इसकी लंबी अवधि को आलस्य, विलास एवं प्रमाद में बिता देते हैं और अपने आवश्यक कर्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों के प्रति ईमानदार नहीं रहते। कामों को अधूरा छोड़कर ढेर लगा लेने वाले जब देखते हैं कि उनकी जीवन

अवधि की परिसमाप्ति निकट आ गई है और उनके तमाम काम अधूरे पड़े हैं, तब वे मृत्यु के भय से काँप उठते हैं। सोचते हैं मेरी जिंदगी बढ़ जाती, मृत्यु का निरंतर बढ़ा चला आ रहा अभियान रुक जाता है तो मैं अपने काम पूरे कर लेता। किंतु उनकी यह कामना पूरी नहीं हो पाती है। मृत्यु आती है और अकर्मण्यता के फलस्वरूप उनकी चोटी पकड़कर घसीट ले जाती है।

इसके विपरीत जिसने अपने कर्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों को रुचि एवं तत्परता से पूरा किया है, जीवन के करणीय कार्यों की उपेक्षा नहीं की है, आयु के प्रत्येक क्षण का सदुपयोग किया है, उसे मृत्यु से डरने का कोई कारण ही नहीं रह जाता। वह मृत्यु आने पर हँसता-मुस्काता हुआ उसका स्वागत करता है और मृत्यु उससे संतुष्ट माता की तरह प्यार से गोद में उठाकर ले जाती और उन दिव्य स्थानों पर पहुँचा देती है, जहाँ उसके कर्तव्य के पुरस्कार उसकी प्रतीक्षा कर रहे होते हैं। अकर्तव्यता एवं अकर्मण्यता दोनों ही ऐसे दोष हैं, जो मृत्यु-भय को न केवल जाग्रत् ही रखते हैं बल्कि बढ़ाकर भयानक से भयानकतर बना देते हैं। मृत्यु का भय कायर की वृत्ति है, कर्मवीर तो उसे मित्र तथा माता मानकर किसी समय भी उसका स्वागत करने को तैयार रहा करते हैं।

यदि मृत्यु से भयभीत होने का स्वभाव स्थायी हो गया है और यह किसी प्रकार भी बदलते नहीं बनता, तो भी उसका लाभ उठाया जा सकता है। जिस प्रकार शत्रु का भय सदैव सतर्क एवं सन्नद्ध बना देता है, सुरक्षा के प्रबंधों तथा व्यवस्था के लिए सक्रिय रखता है, उसी प्रकार मृत्यु को एक आकस्मिक आपत्ति समझकर सतर्क एवं सावधान हुआ जा सकता है। यह बात सत्य है कि मनुष्य शरीर छोड़ने से उतना नहीं डरता जितना 'मृत्यु के बाद न जाने क्या गति होगी'—इस विचार से भयभीत होता है। उसे आशंका रहती है कि मृत्यु के बाद उसे भयानक तथा अँधेरे लोकों में भटकना होगा। कीट-पतंगों की निकृष्ट योनियों में जाना होगा। बैल, भैंसा, ऊँट, घोड़ा, गधा आदि बनकर वह सब दंड भोगना

होगा, वह सब यातना सहनी होगी, जिसे हम आज अपनी आँखों से उन्हें भोगते देख रहे हैं।

यदि यह आशंका मृत्यु-भय को जन्म देती है, तब क्यों न ऐसे कर्मों, गतिविधियों में संलग्न हो जाया जाए, जिससे कि अँधेरे लोकों तथा अधम योनियों की आशंका ही दूर हो जाए। अधिक से अधिक जितना प्रकाश, जितना आलोक और जितना उजाला हम इकट्ठा कर सकें क्यों न कर लें, जिससे कि परम गति में अपनी आत्मा के प्रकाश से अपना पथ प्रकाशित कर सकें। इसमें तो कोई संदेह ही नहीं कि उजेले की प्राप्ति उज्ज्वल एवं आदर्श कर्मों से ही होती है। पुण्य, परमार्थ, परोपकार, परसेवा और पावन जीवन-पद्धति से आत्मा में अक्षय प्रकाश के भंडार भर जाते हैं। इससे पूर्व कि मृत्यु आए और अपमानपूर्वक चोटी पकड़कर घसीट ले जाए, क्यों न सत्पथ पर अग्रसर होकर प्रकाश का प्रबंध कर लिया जाए। क्यों न उस पुण्य प्रधान संबल को एकत्र कर लिया जाए, जो हमारा और हमारी आत्मा का अनंत एवं अगत पथ में सहायक बने।

इस विषय में साधन-सामान की शिकायत करना उचित नहीं। कोई भी सत्कर्म फिर चाहे वह छोटा हो अथवा बड़ा, यदि सच्ची परमार्थ भावना से किया गया है, तो समान फल ही उत्पन्न करता है; क्योंकि कर्म में भावना ही प्रधान होती है, उसका आकार-प्रकार नहीं। आइए, हम अपनी वासनाओं, तृष्णाओं तथा एषणाओं को त्यागकर, स्वार्थ तथा संकीर्णता को तिलांजलि देकर, क्रूरता, कपट और असत्य को बहिष्कृत कर, द्वेष, दुर्भाव तथा दयनीयता को छोड़कर, दया, दाक्षिण्य, उदारता, प्रेम, सौहार्द्र, दान तथा धर्म भावना के अक्षय दीप जला लें, तब देखें मृत्यु का भय, परलोक का अंधकार हमारी तटस्थ बुद्धि को किस प्रकार विचलित कर सकता है ? अपने अधूरे कामों को पूरा करने में जुट जाइए, अपने कर्तव्यों से मुँह न चुराइए, पुण्य, परोपकार का कोई अवसर न जाने दीजिए और अपनी आत्मा पर विश्वास कर जीवन को प्रखर गति से आगे बढ़ाइए, तब मृत्यु से भयभीत होने का कोई कारण न रह जायेगा।

हो सकता है एक लंबे प्रमाद के कारण आपके इतने काम अधूरे रह गए हों, जिन्हें अब अवशेष अवधि में पूरा करना संभव नहीं, तब भी चिंता की कोई बात नहीं, आपको उन्हें पूरा करने का फिर अवसर मिलेगा। भावना के बदलते ही पश्चात्ताप के साथ क्रियाशील हो उठने पर मनुष्य के पूर्व अपराध क्षमा कर दिए जाते हैं और उसे एक बार फिर अपना सुधार करने और सुपथ निर्माण करने के लिए समय व अवसर दिया जाता है। यह तो साधारण सांसारिक व्यवहार में भी होता रहता है, फिर उस परम पिता की सुंदर, करुण तथा दयापूर्ण विधान धारा में तो यह और भी सरल है।

इस साधारण पक्ष के साथ-साथ मृत्यु के संबंध में एक अधिक गहरा और सत्य पक्ष भी है। जो इसका दार्शनिक पक्ष कहा जाता है। मनुष्य का जीवन दो तत्त्वों से मिलकर बना है। शरीर और उसमें निवास करने वाली चेतना। जीवन का चेतन-तत्त्व ही तो वास्तव में हम हैं। यह मृत्तिका पिंड तो उस चेतन की अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र है। उसका वाहन भर ही है। रथ में बैठकर चलने वाला मनुष्य यदि स्वयं को रथ मान ले, तो उसके नष्ट हो जाने पर मनुष्य को स्वयं अपने को ही नष्ट मान लेना चाहिए, किंतु ऐसा होता कहाँ है ? रथ अथवा वाहन के नष्ट हो जाने पर भी उसका रथी अथवा सवार यथावत् बना ही रहता है। हाँ ! जब उसको अपने वाहन के प्रति अनुचित ममता हो जाती है, उसे ही अपना अस्तित्व एवं सर्वस्व मान बैठता है, तो अवश्य ही उसके नष्ट होने अथवा नष्ट होने की कल्पना से दुःख होता है, किंतु यह तो अज्ञान है। इसको किसी भी प्रकार से मान्यता नहीं दी जा सकती।

अपने को शरीर समझने वाले अज्ञानी व्यक्ति ही तो मृत्यु अर्थात् देहावसान से भयभीत रहा करते हैं। जो बुद्धिमान् अपने को चेतन स्वरूप समझते हैं—जो कि वास्तव में उनका स्वरूप है भी—वह मृत्यु के भय से कदापि क्लांत नहीं होते, क्योंकि उनकी मृत्यु होती ही नहीं है। चेतन अथवा आत्मा अक्षय तथा अजर-अमर है, उसकी मृत्यु होना तो दूर उसे कोई विचार तक नहीं घेरता और

यही अमर आत्मा ही तो मनुष्य का वास्तविक अस्तित्व, उसका सच्चा स्वरूप है। देहाभिमान ही मृत्यु का मूल कारण है। इसे छोड़कर अपने सत्य स्वरूप आत्मा में विश्वास करिए, आपको मृत्यु का भय होने का कोई कारण ही न रह जायेगा। शरीर तो आत्मा की सहायता, उसका अलंकरण तथा प्रकाश करने के लिए बदलते ही रहते हैं। हर मौत के बाद आत्मा को एक नया तथा सुंदर शरीर मिलता रहता है—तब यह तो हर्ष तथा प्रसन्नता की ही बात हुई, इसमें खेद अथवा दुःख करने का क्या प्रयोजन हो सकता है ?

इस सत्य से कौन इनकार कर सकता है कि दिन भर काम करने के बाद शरीर थक जाता है, तो रात्रि में विश्राम की आवश्यकता होती है। मनुष्य मीठी नींद सोकर दूसरे दिन के लिए नई स्फूर्ति तथा शक्ति से भर जाता है। तब जीवन की एक लंबी अवधि तक चलते रहने पर आत्मा यदि विश्राम करने के लिए मृत्यु रूपी नींद की गोद में चली जाती है, तो इसमें खेद की क्या बात है ? मृत्यु का एक विश्राम लेकर वह पुनः किसी दूसरे शरीर में जागती है और नवीन स्फूर्ति, नए उत्साह में अपने लक्ष्य मोक्ष की ओर अग्रसर हो चलती है। अतः बुद्धिमत्ता इसी में है कि मृत्यु की यह अनिवार्य नींद मीठी, सुखद, गहरी और निश्चिंत हो। ऐसा जीवन जियें, ताकि नव-जागरण के बाद की, नई सुबह और नई जिंदगी, नई स्फूर्ति से शुरू हो।

मृत्यु एक दिन में नहीं आती। वह धीरे-धीरे समीप आती रहती है। उसे सुखद, नव-स्फूर्तिप्रद भी एक दिन में किसी एक कर्मकांड या क्रिया विशेष से नहीं बनाया जा सकता, अपितु संपूर्ण जीवन क्रम ही मृत्यु का स्वरूप भी निर्धारित करता रहता है। सात्त्विक, सौम्य, श्रेष्ठ, सदाचार युक्त जीवनक्रम ही शानदार, सुंदर, संतोषदायक, शक्तिवर्धक मृत्यु, निद्रा का आधार बनता है। जो बुद्धिमत्तापूर्वक जीता है, उसी की मृत्यु, भी उत्तम स्तर की होती है। उत्तम स्तर से अभिप्राय बाजे-गाजे के साथ या किसी बड़े पद पर आसीन रहकर मरने का नहीं वरन् संतोष-शांति, आनंद-उल्लास,

अनासक्ति और प्रसन्नता के साथ मृत्यु का वरण करने से है, क्योंकि उसी स्थिति में जीवात्मा निश्चिंत भाव से मीठी नींद लेती और नई ताजगी के साथ नया जीवन प्रारंभ करती है। मृत्यु एक सुनिश्चित घटना है, वह होनी है, जो होकर ही रहेगी, मनुष्य के वश में बस इतना ही है कि वह इस घटना को भव्य और गरिमा-युक्त, श्रेष्ठ और शुभप्रद बना सके। अन्यथा अनिच्छा, अनुत्साह और अशांति के साथ ही सही, मरना तो पड़ेगा ही। तब फिर शानदार मौत ही क्यों न मरें ? निश्चिंत भाव से, शांत चित्त से ही क्यों न मृत्यु देवी का स्वागत करें ? बुद्धिसानी तो तभी है, जब इस अटल विधान को सोत्साह स्वीकार करें।

प्रकृति-जननी प्रत्येक श्रांत-क्लांत जीव को समान भाव से, सुनिश्चित तौर पर मृत्यु का उपहार दिया करती है, उसे विनम्रता और उल्लास के साथ स्वीकार करना ही उचित है। मृत्यु का वरण शांति और गंभीरता से करें, इसी में मानवीय गरिमा और बुद्धिमत्ता की रक्षा होती है; पर यह संभव तभी है, जब जीवन का पूरा ढाँचा ही बुद्धिमत्तापूर्वक खड़ा किया जाए, उसे श्रेष्ठता से सतत् संयुक्त रखा जाए।

❐ ❐

अर्धमृत न रहें, पूर्ण जीवित बनें

अध्यात्म क्षेत्र में यह असमंजस बहुत पहले से ही छाया हुआ था कि मृतक किसे कहा जाए और जीवित किसे ? जिसकी आशा मर गई, जिसका लक्ष्य छूट गया, जिसका प्रकाश बुझ गया वह मृतक है, भले ही वह साँस ले रहा हो—यह प्रतिपादन दर्शनक्षेत्र में सदा ही किया जाता रहा है, भले ही वह अलंकारिक रहा हो, पर कहा यही गया है कि आदर्शविहीन—निरुद्देश्य, भारभूत जिंदगी से वे मृतक अच्छे हैं, जिन्होंने धरती का अन्न-जल नहीं बिगाड़ा और मल-मूत्र से वायुमंडल को गंदा करना बंद कर दिया।

यह अलंकारिक प्रतिपादन अब नए ढंग से वैज्ञानिक असमंजस के रूप में सामने आ खड़ा हुआ है। जिन्हें मृतक समझकर गाड़ा या जलाया या बहाया जाता रहा है, वे जीवित थे या मृत ? उनकी अंत्येष्टि जीवित अवस्था में ही कर दी गई थी या मरने के बाद ? इस प्रश्न पर नए सिरे से विचार किया जा रहा है। आमतौर से जिन्हें मृतक मान लिया जाता है क्या वे सचमुच ही मर-चुके होते हैं ? अथवा अधमरे होते ही उनके मूर्च्छित शरीर से पिंड छुड़ाने की तैयारी कर ली जाती है। मृत्यु की व्याख्या क्या होनी चाहिए ? जीवित और मृतक का अंतर किस आधार पर किया जाना चाहिए, यह एक विचित्र, किंतु महत्त्वपूर्ण प्रश्न शरीर विज्ञानियों के सामने उभरकर आया है।

मृत्यु की जो व्याख्याएँ अब तक की जाती रही हैं, वे सभी अपूर्ण हैं। कौन मर चुका, कौन मर रहा है, कौन मरने जा रहा है इसका गंभीर पर्यवेक्षण होना चाहिए अन्यथा जीवितों के साथ मृतकों जैसा व्यवहार करने की भयंकर भूल चलती ही रहेगी। इस

संदर्भ में फ्रांस के प्रसिद्ध क्लिीनीशियन प्रो० मोलोरेट ने राष्ट्रसंघ के स्वास्थ्य संगठन को एक गंभीर चेतावनी दी है कि मृत्यु की व्याख्या के आधार पर नए सिरे से विचार किया जाना चाहिए और मृत्यु को परंपरागत ढर्रे के आधार पर नहीं, वरन् तथ्य के आधार पर घोषित किया जाना चाहिए। एक का हृदय दूसरे को लगाते समय यह धर्म संकट उत्पन्न होता है कि जिस व्यक्ति को मृत घोषित करके, उसका हृदय निकाला गया था, क्या वह वस्तुतः मर ही गया था ? अथवा जीवित रहते हुए भी मृतक मानकर उसका वह महत्त्वपूर्ण अंग काट लिया गया था। यदि वह मृतक नहीं था तो उसकी या उसके घर वालों की, वसीयत के विरुद्ध निश्चय ही यह विश्वासघात का अथवा हत्या कर डालने का मामला बन जाता है। भले ही वह हत्या डॉक्टरों द्वारा सदुद्देश्य के लिए ही क्यों न की गई हो ?

अब मृत्यु की सुनिश्चित घोषणा संबंधी व्याख्या का प्रश्न पहले की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल और विवादास्पद हो गया है। शास्त्रीय मृत्यु—'क्लिनिकल डेथ' पहले होती है और जीवन का अंत—'बायोलॉजिकल डेथ' की स्थिति उसके बाद में आती है। दोनों के बीच कितने समय का अंतर रहता है, इसका कोई निश्चित नियम नहीं है। वह अंतर छोटा भी हो सकता है और बड़ा भी।

प्रख्यात मृत्यु शोधकर्ता प्रो० नेगोस्की ने मृत्यु को चार चरणों में विभाजित किया है। पहला चरण वह है जिसमें श्वास की गति और हृदय की धड़कन मंद हो जाती है, फिर भी मस्तिष्कीय चेतना किसी रूप में जीवित रहती है। इलैक्ट्रोएन्सेफेलोग्राफ (ई० ई० जी०) यंत्र से पता लगाया जा सकता है कि मस्तिष्क पूर्णतया मरा नहीं है, वह मंद गति से कई देह-घटकों को संदेश भेज रहा है।

मृत्यु का दूसरा चरण वह है, जिसे 'सेरिब्रल डेथ' कहते हैं। इसमें मस्तिष्क शरीरगत अवयवों को अपने संदेश देना बंद कर देता है। इसलिए शरीर की हलचलें रुक जाती हैं, फिर भी

चेतना का पूर्ण अंत नहीं होता। मस्तिष्क अपनी सत्ता में केंद्रित रहता है और शरीर के जीवाणु मस्तिष्क के साथ संबंध विच्छेद हो जाने पर भी अत्यंत मंदगति से अपनी हरकतें करते रहते हैं। शरीर का कोई अंग कट जाने पर वह कुछ समय तक उछलता रहता है। यह स्थानीय जीवाणुओं की वैसी ही हरकत है जैसे धक्का मार देने पर पहिया कुछ समय तक अपने आप लुढ़कता चला जाता है। 'सेरिब्रल डेथ' हो जाने के उपरांत भी शरीर में कई घंटों तक जीवन के चिह्न पाए गए हैं।

तीसरा चरण है—क्लिनिकल डेथ—शास्त्रीय मृत्यु। इनमें नाड़ी की गति, हृदय की धड़कन, श्वास क्रिया रुक जाती है और मस्तिष्क गहरी अचेतना में डूब जाता है। इस स्थिति में भी शरीर विश्लेषण करने पर पता चलता है कि किन्हीं अवयवों में मंदगति से स्थानीय हलचलें चल रही हैं। इस स्थिति में उच्चस्तरीय उपचार से पुनः जीवन को लौटाया जाना संभव हो सकता है।

चौथा चरण वह है जिसमें जीवन की समस्त संभावनाएँ समाप्त हो जाती हैं। पूर्ण मृत्यु का साम्राज्य छा जाता है और जीवाणुओं का सड़ना, विघटित होना आरंभ हो जाता है।

मूर्च्छा शास्त्र (अनेस्थेटिक्स) की नवीनतम शोध मान्यताओं के अनुसार केंद्रीय मज्जा-तंतु-व्यवस्था (सेंट्रल नर्वस सिस्टम) की क्रियाएँ बंद हो जाने पर भी पूर्ण मृत्यु घोषित नहीं की जा सकती। इन अन्वेषणों के अनुसार हृदय की धड़कन का रुकना, रक्त-संचार बंद होना, श्वास रुकना, नाड़ी चलना बंद होना, चमड़ी सफेद पड़ जाना, पुतली पथरा जाना, जैसे मृत्यु के प्रख्यात लक्षण वस्तुतः जीवाणुओं की पारस्परिक संघटना का क्षय मात्र है। उसे चिकित्सा के आधार पर तत्काल रोका जा सकता है। मृतकों को पुनर्जीवित करने में मिली सफलताओं का कीर्तिमान् यह है कि मस्तिष्क की क्रियाशक्ति समाप्त हो जाने

के तीन दिन उपरांत तक श्वसन क्रिया बंद होने के चौबीस घंटे बाद तक रोगियों में जीवन चिह्न पाए गए और उन्हें फिर सजीव किया जा सका। जर्मनी के जिन दो वैज्ञानिकों ने ऐसे मृतकों को पुनर्जीवित करने में ख्याति प्राप्त की है, उनके नाम हैं—डॉ० बुशर्ट और डॉ० रिट्मेअर। इन्होंने यह घोषणा की है कि—'सेरिब्रल डेथ'—'मस्तिष्कीय मृत्यु', हो जाने पर भी केंद्रीय मज्जा-तंतु संस्थान बहुत समय तक अपना काम करता पाया गया है।

निष्कर्ष यह निकला है कि हृदय का निष्क्रिय हो जाना श्वास-प्रश्वास, आकुंचन-प्रांकुचन, रक्ताभिसरण-क्रियाओं का बंद हो जाना पूर्ण मृत्यु नहीं है। असल में शरीर पर पूरा कब्जा मस्तिष्क का है। यदि यहाँ के किन्हीं कोशों में तनिक भी जीवन चिह्न मौजूद हैं, तो उसे जीवित ही कहा जा सकता है और यह आशा की जा सकती है कि चेतना का पुनः प्रस्फुरण करके निष्क्रिय हुए अंग-अवयवों की तब तक पुनर्जीवित होने की आशा की जा सकती है, जब तक कि वे सड़ने नहीं लगे हों।

जीवन का अंत चेतना के अंत के साथ होता है। सोचने-विचारने या अनुभव करने की चेतना क्लोरोफार्म जैसी औषधियों से भी बंद की जा सकती है। उस स्थिति को मृत्यु तो नहीं कहा जाता। ठीक इसी प्रकार मृत्यु समय में गहरी मूर्च्छा होने के कारण यदि अवयवों ने काम करना बंद कर दिया है, तो इसे कारखानों की तालाबंदी के समय मजदूरों की छुट्टी भर कहा जायेगा—मृत्यु नहीं। मृत्यु की परख तो चेतना के सभी लक्षण समाप्त हो जाने से ही की जा सकती है, क्योंकि जीवन और चेतन वस्तुतः एक ही बात है।

रूस के एक मूर्धन्य वैज्ञानिक थे प्रो० लेख्लैडो। अणु विघटन के शोध कार्य पर उन्हें सन् १९६२ में नोबल पुरस्कार मिला था। उसी वर्ष वे मोटर दुर्घटना में बुरी तरह घायल हुए, शरीर का प्रायः हर अवयव क्षत-विक्षत हो गया। उन्हें बचाने के लिए संसार भर के

चिकित्साशास्त्रियों ने प्राण-पण से प्रयत्न किए। तीन महीने वे बेहोश रहे। इस अवधि में चार बार उनके हृदय की गति बंद रही और कई-कई घंटों बंद रही। चारों बार शास्त्रीय मृत्यु घोषित कर दी गई। इतने पर भी यह अनुभव किया जाता रहा कि जीवन को फिर वापस लौटाया जा सकता है।

दिमाग में खून की गाँठ बन गई है इसलिए यह बेहोशी रहती है—इस निष्कर्ष के उपरांत कनाडा के न्यूरो सर्जन पेनफील्ड ने दिमाग के ऑपरेशन की तैयारी की। अंतिम दर्शन की इच्छा से उनकी पत्नी भेंट के लिए पहुँची। उसने सिर पर हाथ फिराते हुए कहा—"प्रियतम—क्या तुम मुझे पहचानते नहीं हो ? तुम सुन तो सकते हो, पर इस अवस्था में बोल नहीं पा रहे हो। यदि तुम सुन सकते हो तो चार बार पलक पीट दो, मैं समझ लूँगी—तुम मुझे पहचानते हो और होश में हो।" मूर्च्छित पड़े हुए रोगी ने चार बार पलक पीटे। डॉक्टरों की टीम ने एक स्वर से माना कि वे होश में हैं और ऑपरेशन की व्यवस्था रद्द कर दी गई। उनके अन्य उपचार उत्साहपूर्वक किए जाते रहे। वे अच्छे हो गए और छह वर्ष तक भली प्रकार जीवित रहे।

एडिनबर्ग के एक होस्टल में एक लड़की बीमार होकर मरी। डॉक्टरों ने उसे मृतक घोषित कर दिया, पर होस्टल का वॉर्डन उसकी आकृति देखकर जीवित ही कहता रहा और उसने लाश को तब तक दफन नहीं होने दिया, जब तक कि उसमें सड़न उत्पन्न न हो जाए। आमतौर से तीसरे दिन लाशें सड़ने लगती हैं, पर उस लड़की का शरीर तेरह दिन तक वैसा ही रखा रहा। चौदहवें दिन लड़की ने करवट बदली और साँस ली। इसके बाद धीरे-धीरे अच्छी हो गई।

एक घटना आस्ट्रिया की इससे भी विचित्र है। अपने मृत मालिक की ताबूत में रखी हुई लाश की पहरेदारी उसके पालतू कुत्ते ने आरंभ कर दी। किसी को वह पास नहीं फटकने देता था और जो समीप जाने का प्रयत्न करता, उसे काटने को दौड़ता।

तीसरे दिन जब ताबूत कब्रिस्तान ले जाया जा रहा था, तो कुत्ते ने कंधा देने वालों के पैर काट लिए। इस पर ताबूत गिरकर टूट गया। देखा गया कि मृतक की साँसें चल रही हैं। उसे वापस घर लाया गया। तब लोगों ने समझा कि कुत्ता अपनी अतींद्रिय क्षमता से यह जान रहा था कि मालिक मृत नहीं हुआ है।

न्यूयार्क की वह घटना डॉक्टरों की दुनिया में बहुचर्चित है, जिसमें एक मृतक का पोस्टमार्टम करते समय मुर्दा उठकर बैठ गया था और उसने डॉक्टर का गला पकड़ लिया। डॉक्टर भयभीत होकर गिर पड़ा और दिल की धड़कन बंद होने से मर गया, किंतु वह मुर्दा छुरी के घाव को भी सहन करके धीरे-धीरे अच्छा हो गया।

घटना कलकत्ता की है। उन दिनों सन् १८६६ में अंग्रेजी राज्य था। कई अंग्रेज अधिकारी एक दिन गपशप कर रहे थे कि उनमें से एक फ्रेंकलेसली का सिर मेज पर झुकता चला आया और देखते-देखते वह दम तोड़ गया। उसके कुटुंबी तथा पूर्वज भी हृदयाघात से ही मरे थे। फ्रेंकलेसली का भी यही हाल हुआ। मृत शरीर के प्रचलित रस्म पूरे करने के बाद उसे कुनूर के कब्रिस्तान में दफना दिया गया। उसका परिवार उटकमंड में रहता था। कई अन्य कुटुंबी भी वहीं दफनाए गए थे, इसलिए परिवारी यही चाहते थे कि इस लाश को परिवार की अन्य लाशों के समीप ही दफन किया जाए। लाश को स्थानांतरण करने की तथा लाश के लिए स्थान प्राप्त करने की दौड़-धूप में कई महीने लग गए।

लाश का स्थानांतरण करने की क्रिया जब कभी होती है तो यह आवश्यक होता है कि ताबूत खोलकर मृतक को वस्त्र आदि के सहारे पहचाना जाए। लेसली का ताबूत भी खोला गया तो देखने वाले चकित रह गए। लाश चित लिटाई गई थी, उसके हाथ क्रूस की आकृति बनाकर छाती पर रखे गए थे। पर अब तो वह औंधे मुँह लेटा था। कमीज चिथड़े-चिथड़े फटी हुई थी। नया पहनाया

हुआ पेंट भी घुटनों पर से फटा हुआ था। आँख पर कई जगह खरोंचें थीं तथा मुँह से निकला हुआ खून जमकर सूख गया था। इन चिह्नों से यही अनुमान लगाया गया कि मृतक का प्राण ताबूत में फिर से लौटा होगा। उसने निकल भागने के लिए प्रयत्न किए होंगे, किंतु वैसा संभव न हो सकने के कारण दम घुटकर वह मर गया होगा।

इटली में मांटुआ नगर के समीप मजोला ग्राम में भी ऐसी ही एक घटना घटी। लावरीनिया मेर्ली नामक एक गर्भवती महिला की मृत्यु मिर्गी का विकट दौरा आने के कारण हो गई। लाश को ताबूत में बंद कर दिया गया। उसके कुटुंबियों के आने के इंतजार में दो दिन लाश बिना दफनाए रखी रहने दी गई। जब वे आए और अंतिम दर्शन के लिए ताबूत खोला गया तो देखा कि मृतक ने बाहर निकलने के लिए भारी प्रयत्न किया है, इससे उसका शव क्षत-विक्षत हुआ है। इतना ही नहीं, उसने सात महीने के गर्भ को जन्म भी दिया है। जच्चा-बच्चा दोनों ही दम घुटने से मरे। हालांकि मृत्यु की घोषणा कुशल डॉक्टर की परीक्षा के बाद की गई थी, तो भी इस घटना में मृत्यु के बाद फिर से जीवन लौट आने की बात सिद्ध हुई। यह घटना ३ जुलाई सन् १८६० की है।

अभिलेखों में ऐसी ही एक घटना पादरी श्वार्त्स की है। भारत के एक देहाती मिशन में काम करते हुए उसकी मृत्यु हुई। कुटुंबियों के इकट्ठे होने तक लाश को रखा रहने दिया गया और तीसरे दिन अंत्येष्टि की व्यवस्था बनी। जब परिवार के लोग रस्म के अनुसार प्रार्थना के भजन गा रहे थे, तो देखा गया कि मृतक के भी होंठ हिलने लगे और वह भी मंद स्वर से उस भजन को गाने में साथ देने लगा। यह जीवन चिह्न देर तक नहीं रहे, उसकी फिर मृत्यु हो गई, पर इसमें संदेह नहीं रहा कि एक बार मृत्यु के मुख से फिर वापस लौट आया था।

हिम प्रदेशों में ठंड के दिनों में रीछ बर्फ में दबकर जम जाते हैं। तब उनमें जीवन के बहुत कम चिह्न शेष रह जाते हैं। यहाँ तक कि श्वास क्रिया और दिल की धड़कन भी अनुभव में नहीं आती। इस स्थिति में पड़े रहने के बाद गर्मी आते ही वे सजीव होने लगते हैं और साधारण रीति से काम करने लगते हैं। छिपकली, रीछ, साँप, मेंढक, केंचुए आदि कितने ही प्राणी सर्दियों के दिनों में बहुत समय तक समाधिस्थ हो जाते हैं। उन दिनों उनके शरीर की जाँच-पड़ताल करने पर अर्धमृतक जैसी स्थिति पाई जाती है।

कई बार मृत्यु घोषित कर देने पर भी पूर्ण मृत्यु नहीं होती। जीव कोशों में जब तक जीवन रस मौजूद है—भले ही वह न्यून मात्रा में हो, जीवन वापस लौट आने की संभावना बनी रहेगी। कई बार तो वे मौत के १२० घंटे बाद तक जीवित पाए गए हैं। मरे हुए मनुष्यों के कुछ घंटे बाद जीवित हो उठने के समाचार यदा-कदा मिलते हैं, इनमें यही कारण होता है कि जीवन-रस की मात्रा पूरी तरह समाप्त नहीं हुई होती और उसके सजग हो उठने पर कोश भी काम करने लगते हैं और मृत्यु का स्थान जीवन ले लेता है। यह पुनर्जीवन क्षणिक हो या स्थायी यह भी कोशों की स्थिति और उनमें भरे जीवन-रस की स्थिति पर ही निर्भर करता है।

यदि जीव कोशों की, उसमें भरे जीवन रस की विकृति रोकी जा सके, उन्हें पुनः पोषण दिया जा सके, तो मनुष्य अति दीर्घजीवी हो सकता है। यह कार्य सिद्धांततः न तो कठिन है न असंभव, क्योंकि जीवकोश और जीवन-रस को तत्त्वतः अमर माना गया है। वे अमुक शरीर में ही मरते हैं—उस ढाँचे के ही अनुपयुक्त होते हैं। वस्तुतः उनका विनाश नहीं होता। शरीर के मर जाने पर भी वे अपना मूल अस्तित्व बनाए रहते हैं और किसी अन्य रूप में परिवर्तित होकर अपनी नवीन कार्य पद्धति

का पुनः आरंभ करते हैं। आत्मा की तरह वह जीवकोश भी अमर ही कहें जा सकते हैं।

इन्हें जीर्ण या विकृत होने से जितनी अधिक देर तक रोका जा सकेगा, उतनी ही लंबी जिंदगी संभव हो जायेगी। मृत्यु के बाद जिस तरह वे नया जन्म धारण कर नयी जिंदगी आरंभ करते हैं, वैसी ही प्रक्रिया यदि पुराने शरीर में आरंभ कराई जा सके, तो उसी काया के रहते पुनर्जीवन आरंभ हो सकता है। इसे अध्यात्म की भाषा में कायाकल्प कहते हैं। कभी इस प्रयोजन की पूर्ति में योग एवं आयुर्वेद की सम्मिलित प्रक्रिया सफल भी रही है। च्यवन ऋषि का वृद्ध शरीर अश्विनी कुमार की चिकित्सा से नवयौवन संपन्न हुआ था। राजा ययाति ने भी वृद्धावस्था से लौटकर पुनः यौवन प्राप्त किया था। इसका अर्थ है कि अर्धमृत की-सी स्थिति से भी पुनः प्रखर जीवंतता की ओर लौटा जा सकता है।

पूर्ण मृत्यु तब होती है, जब मस्तिष्क के कोशों (सेल्स) को इतना आघात पहुँच जाए कि वे सदैव के लिए काम करना बंद कर दें। हृदय और साँस की क्रियाएँ बंद हो जाती हैं, तब भी मस्तिष्क काम करता रहता है। इससे निर्विवाद साबित होता है कि चेतना का प्रत्यक्ष संबंध शरीर से नहीं, मानसिक शक्तियों से है। मस्तिष्क एक ऐसी जटिल प्रणाली है, जिसके बारे में वैज्ञानिक भी हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं। अभी तक बाह्य मस्तिष्क की अधिक से अधिक १० प्रतिशत जानकारी उपलब्ध की जा सकी है। मध्य मस्तिष्क (मिडिल ब्रेन) की तो कुल ३ प्रतिशत ही जानकारी हो सकी है। इसलिए वैज्ञानिकों के लिए मृत्यु अब भी रहस्य बनी हुई है।

हृदय-गति रुकने से मस्तिष्क को शुद्ध रक्त मिलना बंद हो जाता है। इससे वह शकर-प्रज्वलित कर सकने में असमर्थ होता है। इसी क्रिया के द्वारा मस्तिष्क को शक्ति मिलती है। देखा गया है

कि रक्त न मिलने पर भी वह ६ मिनट तक आपातकालीन उपायों के सहारे जीवित बना रह सकता है। वैज्ञानिक इन आपातकालीन सहायताओं का अध्ययन करके मस्तिष्क का सीधा संबंध आर्गनिक पदार्थों के संश्लेषण से जोड़ने के प्रयत्न में हैं। यदि ऐसा कोई उपाय निकल आया तो योगीजनों की समाधि के समान वैज्ञानिक भी मनुष्य को अर्द्ध-जीवित (सुषुप्ति) अवस्था में सैकड़ों वर्ष तक बनाए रख सकते हैं।

विज्ञान के लिए जो संभावना है, योगियों के लिए वही इच्छा मृत्यु। चेतना की अमरता की परिपूर्ण जानकारी भारतीय तत्त्ववेत्ताओं ने मानसिक एकाग्रता, ध्यान और समाधि के द्वारा प्राप्त करके ही यह बताया कि—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।।

—गीता २।१३,

अर्थात्—जैसे जीवात्मा की इस देह में कुमार, युवा और वृद्ध अवस्था होती है, वैसे ही वह अन्य शरीर की भी प्राप्ति करता है। धीर पुरुष शरीर में मोहित नहीं होते।

न जायते म्रियते वा कदाचि—
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो,
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।

—गीता २। २०

हे अर्जुन ! यह आत्मा न किसी काल में जन्म लेती है और न मरती है और न यह आत्मा हो करके फिर होने वाली है, यह अजन्मा, नित्य शाश्वत, (अमर) और पुरातन है, शरीर के नाश हो जाने पर भी यह नाश नहीं होती।

शरीर के कोशों को सुरक्षित रखकर लंबे समय तक चेतना को अमर बनाए रखा जा सकता है, पर यह केवल तभी संभव है, जब मस्तिष्क की आधी चेतना बनी रहे। ऐसा भी हुआ है कि जब मस्तिष्क के एक-दो 'सेल' मात्र ही जीवित बने रहे हों और उनसे मृत शरीर को कई महीनों बाद भी पुनर्जीवन दिया गया हो। प्लूटो आदि की लंबी यात्राओं में भी अंतरिक्ष यात्री को ऐसे उपकरणों में घेरकर लिटाया जायेगा, जो अचेतावस्था (एनेबायोसिस) में निद्रा का नियंत्रण और रक्षा करते रहेंगे। क्योंकि वैज्ञानिक जान गए हैं कि चेतना को बाँधा नहीं जा सकता, अधिक से अधिक अवस्था-परिवर्तन किया जा सकता है, क्योंकि मृत्यु स्वयं भी एक अवस्था-परिवर्तन है। अर्थात् चेतना शरीर से लुप्त होकर भी मानसिक जगत् में उसी तरह बनी रह सकती है, जिस तरह स्वप्न या सुषुप्ति की अवस्था में अनुभूतियाँ होती हैं, पर बाह्य इंद्रियों का सहयोग न मिलने से स्थूल जानकारियाँ नहीं मिल पातीं। आत्मा तब अपने ही प्रकाश में काम करती है।

शरीर की बनावट और जीवन का उससे संबंध, इतना जानना ही जीवन की यथार्थ जानकारी नहीं दे सकता, क्योंकि वह अवस्था भी है और मनोविज्ञान भी। वैज्ञानिकों में से अनेक ऐसे हैं, जो अब यह स्वीकार करने लगे हैं कि चेतना का कभी नाश नहीं होता। अवस्था मात्र का परिवर्तन होता है और वह भी नियम-बद्ध होता है। हमें देखना होगा कि क्या हमारी मानसिक क्रियाएँ आत्मा को प्रभावित करती हैं ? एक शरीर से दूसरे शरीर में आने-जाने में मनोमय जगत् का क्या हाथ है ? यदि हम इन बातों को समझ पाएँ तो आध्यात्मिक स्तर पर जीवन को शुद्ध सात्त्विक बनाने और आत्मा की प्राप्ति अमरत्व या मुक्ति की आवश्यकता भी अनुभव करने लगेंगे।

वैज्ञानिकों ने जो प्रयोग किए हैं, वह चेतना के शारीरिक संबंध तक ही सीमित हैं, उसके आगे की लक्ष्य-पूर्ति आध्यात्मिक उपादानों द्वारा ही संभव होगी। हमारे लिए यह सबसे बड़े सौभाग्य

की बात होगी, यदि हम जीवन की इस अनिवार्य आवश्यकता को समझ जाएँ और लक्ष्य-प्राप्ति के प्रयत्नों में जुट जाएँ। वास्तविक जीवन वही है, अन्यथा जीते हुए भी मनुष्य आध्यात्मिक दृष्टि से अर्धमृत ही है।

वैज्ञानिक तथ्य हमें इस निर्णय पर भी पहुँचाते हैं कि किसी की दीर्घसूत्रता, अकर्मण्यता और मनस्विता कितनी ही शिथिल क्यों न हो गई हो—उसके पुनर्जागरण की आशा की जा सकती है। परिस्थितियों की प्रखरता के संपर्क में आकर, तेजस्वी साधनों को अपनाकर, निष्क्रिय लोगों को सक्रिय और तथाकथित मृतकों को जीवित किया जा सकता है। जब एक छोटी-सी चिनगारी दावानल के रूप में प्रचंड हो सकती है, तो कोई कारण नहीं कि मंद चेतना को समग्र जागरूकता के रूप में विकसित परिणत न किया जा सके।

मृत्यु को भारी थकान और गहरी मूर्च्छा का परिणाम माना जाता है। शरीर की थकान स्थिर नहीं, निद्रा के उपरांत उसकी क्षतिपूर्ति हो जाती है। आत्म-चिंतन और प्रखर-प्रोत्साहन से अंतःचेतना पर चढ़ी हुई मंदता का भी निराकरण-निवारण हो सकता है।

मृतक कौन ? जीवित कौन ? किस स्तर तक मूर्च्छित हुए व्यक्ति के पुनर्जीवन की आशा की जा सकती है ? यह प्रश्न शरीर विज्ञानियों के सामने एक गुत्थी के रूप में प्रस्तुत है, पर अध्यात्म विज्ञान का दृष्टिकोण बिल्कुल साफ है। जो स्वयं जीवन प्राप्त करने के लिए आतुर हैं और जिसने प्राणप्रद प्रेरणाओं के साथ संपर्क बना लिया, उसे मंदता की मूर्च्छना से उबरने का अवसर निश्चित रूप से मिलेगा। वह अर्धमृत की स्थिति त्यागकर, अवश्य ही पूर्ण जीवित की पंक्ति में खड़ा होगा।

❑ ❑

मरण-सृजन का अभिनव पर्व— उल्लासप्रद उत्सव

कारखानेदार पुरानी मशीनें हटाते, पुरानी मोटरें बेचते रहते हैं और उनके स्थान पर नई मशीन, नई मोटर लगाते हैं। इसमें कुछ असुविधा नहीं होती, सुविधा ही बढ़ती है। पुरानी मशीन आए दिन गड़बड़ी फैलाती थी, पुरानी मोटर धीमे-धीमे और रुक-रुक कर चलती थी, नई लग जाने से वह पुरानी अड़चनें दूर हो गईं, नई के द्वारा बढ़िया काम होने लगा। जीर्णता के साथ कुरूपता बढ़ती है और नवीनता में सौंदर्य रहता है। पुराने पत्ते रूखे, शुष्क और कठोर हो जाते हैं, जबकि नई कोपलें कोमल और सुंदर लगती हैं। पुराने पत्ते झड़ने पर, पुरानी मशीन उखड़ने पर, पुरानी मोटर बिकने पर कोई इसलिये रंज नहीं मानता कि अगले ही दिन नवीन की स्थापना सुनिश्चित है।

आत्मा अनादि और अनंत है। वह, ईश्वर जितनी ही पुरातन है और कभी नष्ट न होने वाली सनातन है। उसकी मृत्यु संभव नहीं। शरीर का परिवर्तन स्वाभाविक ही नहीं, आवश्यक भी है। हर पदार्थ का एक क्रम है जन्मना, बढ़ना और नष्ट होना। नष्ट होना एक स्वरूप का दूसरे स्वरूप में बदलना भर है। यदि यह परिवर्तन रुक जाए तो मरण तो बंद हो सकता है, जन्म की भी फिर कोई संभावना न रहेगी। यदि जन्म का उल्लास मनाने की उत्कंठा है तो मरण का वियोग भी सहना ही होगा। वधू अपने माँ-बाप से बिछुड़ कर सास-श्वसुर पाती है, सहेलियों को छोड़कर पति को सहचर बनाती है। यदि मैका छोड़ने की इच्छा ही न हो तो फिर ससुराल की नवीनता कैसे मिलेगी ?

पीतल के पुराने बर्तन टूट जाते हैं, तब उस धातु को भट्टी में गलाकर नया बर्तन ढाल देते हैं। यह सुंदर भी लगता है, सुदृढ़ भी

होता है। पुराने, टूटे, चूते-रिसते, छेद, गड्ढे और दरारों वाले शरीररूपी बर्तन को चिता की भट्टी में गलाया जाना तो हमें दीखता है, पर उसकी ढलाई की फैक्टरी कुछ दूर होने से दिखाई नहीं पड़ती है। सोचते हैं पुराना बर्तन चला गया। खोज करने से विदित हो जायेगा कि वह गया कहीं भी नहीं, जहाँ का तहाँ है सिर्फ शकल बदली है।

पुराने मकान टूट-फूट जाते हैं, उन्हें गिराकर नया बनाना सुरक्षा और सुविधा की दृष्टि से आवश्यक है। नया बनाने के लिए जब पुराना गिराया जा रहा होता है तो कोई रोता-कलपता नहीं। शरीर के मरने पर फिर दुःखी होने का क्या कारण है ?

बहुत दिन साथ रहने पर बिछुड़ने का कष्ट उन्हें होता है, जिनकी ममता छोटी है। कुछ ही चीजें जिन्हें अपनी लगती हैं—कुछ ही व्यक्ति जिन्हें अपने लगते हैं, वे प्रियजनों के बिछोह की बात सोचकर अपनी संकीर्णता का ही रोना रोते हैं। वस्तुतः कोई किसी से कभी बिछुड़ने वाला नहीं है, समुद्र में उठने वाली लहरें जन्मती और मरती भर दीखती हैं, पर यथार्थ में समुद्र जहाँ का तहाँ है। कोई लहर कहीं जाती नहीं—सागर का समग्र जहाँ का तहाँ परिपूर्ण रहता है। कुछ समय के लिए बादल बनकर उड़ भी जाए तो नदियों के माध्यम से फिर अगले क्षण उसी महाजलाशय में आकर कल्लोल करता है। मरने के बाद भी कोई किसी से नहीं बिछुड़ता। सूर्य की किरणों की तरह हम सब एक ही केंद्र में बँधे हुए हैं। कुछेक प्राणी ही हमारे हैं, अन्य सब बिराने हैं, इस सीमाबद्धता से ही हमें शोक होता है।

मृत्यु का अर्थ है—कुरूपता का सौंदर्य में परिवर्तन। अनुपयोगिता के स्थान पर उपयोगिता का आरोपण। इससे डरने का न कोई कारण है और न रुदन का। वह तो उल्लासप्रद उत्सव है।

इस तथ्य से अपरिचित लोग मृत्यु का विचार आते ही अजीब तरह से हताश तथा उदास हो जाते हैं। मृत्यु का नाम हृदय पर एक ऐसा धक्का मारता है, जिससे जब तक उसका प्रभाव दूर नहीं हो जाता, हृदय एक भयपूर्ण विरक्ति से भरा रहता है। मृत्यु का भय उन्हें यहाँ तक कायर तथा मिथ्यापूर्ण बना देता है कि

नित्यप्रति अनेक लोगों को मरते देखकर भी अपने मरने की कल्पना में संदिग्धता का समावेश कर लिया करते हैं। भय के कारण वे अपने हृदय में इस सत्य को पूरी तरह स्थान नहीं दे पाते कि एक दिन उन्हें इस संसार को छोड़ ही देना है।

इसमें संदेह नहीं कि मनीषी व्यक्ति मृत्यु के अनिवार्य सत्य को साहस के साथ हृदयंगम कर लेते हैं। वे न केवल उसके भय से ही मुक्त रहते हैं, प्रत्युत जीवन का पूरा-पूरा लाभ उठाते हैं। जिन्हें यह विश्वास रहता है कि न जाने मृत्यु किस समय अपनी गोद में उठा ले, वे जीवन के प्रत्येक क्षण का सदुपयोग कर लेने में बड़ी तत्परता तथा सतर्कता से लगे रहते हैं। वे बहुत कुछ, मृत्यु की बेला से पूर्व, कर डालने के लिए प्रयत्नों में कमी नहीं रखते। मृत्यु का वास्तविक विश्वास उन्हें अधिकाधिक सक्रिय बना देता है।

इसके विपरीत जो मिथ्याविश्वासी मृत्यु से डर-डर कर जीवन में रेंगते हैं, वे बेचारे कुछ दूर भी ठीक से नहीं चल पाते और मृत्यु आकर उन्हें पकड़ ले जाती है। मृत्यु जब अटल है, अनिवार्य है, तब उससे डरना क्या ? मृत्यु से न डरने वाले ही उसे वरण करके चिरंजीवी बनते हैं।

मृत्यु से अभय रहने वाला व्यक्ति उसे एक चुनौती मानकर साहस तथा उत्साहपूर्वक जीता हुआ यह कोशिश करता है कि वह जीवन का राजकुमार मृत्यु का मेहमान बने। जीवन की तरह मृत्यु भी उसे पाकर कृतार्थ हो जाए।

मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियों में भय की गणना भी की गई है, किंतु वह भय कायरता का नहीं, सतर्कता का लक्षण है। यों तो कोई भी मरना नहीं चाहता। मृत्यु से बचने का हर संभव उपाय किया करता है। सड़क पर चलते मोटर से बचना, नदी में नहाते समय डूबने से सावधान रहना, मृत्यु-भय नहीं है। हिंस्र-जंतुओं, रोगों तथा शत्रुओं से जीवन-रक्षा करने में यथासंभव उपायों का करना स्वाभाविक है। निरर्थक एवं निरुद्देश्य मर जाना कोई वीरता नहीं, मूर्खता है। 'हाय मैं मर जाऊँगा' की भावना ही मृत्यु का वह भय है, जो कायरता की कोटि

में आता है। मनुष्य को "हाय मर जाऊँगा" की हीन भावना के वशीभूत होकर कायरता का परिचय नहीं देना चाहिए।

'हाय मर जाऊँगा' की भावना में रो-तड़पकर मृत्यु से बचा तो जा ही नहीं सकता। उल्टे यह भावना जीवन को बोझिल एवं भयावह बना देती है, मृत्यु से निरपेक्ष रहकर जीवन रक्षा का हर संभव उपाय करते हुए, आ जाने पर साहसपूर्वक उसका सहर्ष आलिंगन करने में ही पुरुषार्थ की शोभा है। महान् मृत्यु के अवसर पर जीवन का मोह एक अश्रेयस्कर दुर्बलता है।

मृत्यु का भय उत्पन्न करने में परलोक की चिंता का बहुत बड़ा हाथ है। लोगों का यह सोचते रहना कि मर जाने के बाद न जाने हमारा क्या होगा, हम कहाँ, किस लोक अथवा योनि में भ्रमण करेंगे ? न जाने हमारी सद्गति होगी अथवा अगति, मृत्यु भय को एक बड़ी सीमा तक बढ़ा देता है। परलोक की चिंता ठीक है, वह करनी भी चाहिए। किंतु इस शुभ चिंता से मृत्यु के अशुभ भय का पैदा होना बड़ी ही असंगत तथा अस्वाभाविक बात है। फिर परलोक की चिंता से लोगों में मृत्यु का भय उत्पन्न होता है। इसका एक-मात्र कारण लोक को बिगाड़कर चलना है। परलोक का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। परलोक इस लोक की ही परिणति है। जिस प्रकार का हमारा लोक होगा हमारे लिए उसी प्रकार के परलोक की रचना होगी। यदि हमने अपने आलस्य, अकर्म, अकर्तव्य अथवा अनीति-अत्याचार से अपने लोक को दग्ध कर लिया है और ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट, काम, क्रोध, मोह आदि विकारों तथा वासनाओं से विषैला बना लिया है, तो निश्चय ही उसी के अनुसार हमें चलते हुए लोकों को साकार करने पर विवश होना ही होगा। यदि हम जानते हुए भी अपने कर्मों से पतित परलोकों की रचना के लिए इहलोक में नींव रख रहे हैं तो मृत्यु का भय हमें सतायेगा ही, क्योंकि हम जानते हैं कि जो कुछ हम कर रहे हैं मृत्यु के उपरांत उसका दंड भोगना ही है और इसीलिए मृत्यु की कल्पना आते ही भय से सिहर उठते हैं।

इसके विपरीत यदि हम इहलोक को परलोक का आधार मानकर उसे सजाने, सँवारने और सुंदर बनाने के शुभ प्रयत्नों को ईमानदारी से करते रहें तो मृत्यु की कल्पना हमें विभोर करती रहेगी, क्योंकि हम जानते हैं, हम जो कुछ शिव तथा सुंदर कर रहे हैं वह हमारे लिए मंगलमय परलोक की रचना कर रहा है, जिसको हम मृत्यु के उपरांत पुरस्कार के रूप में पाएँगे।

मनुष्य का विचार सान्निध्य भी मृत्यु के विषय में भय-अभय का कारण होता है। जिसकी चिंतन-धारा जितनी अधिक जीवन के समीप रहेगी, वह उतना ही कम मृत्यु से डरेगा और जिसके विचार जितना अधिक मृत्यु का चिंतन करेंगे, वह उतना ही उससे भयभीत रहेगा। मृत्यु का चिंतन क्या करना ? वह अपने समय पर आएगी, आती रहेगी। उसका विचार छोड़कर मनुष्य को जीवन की आराधना में लगा रहना चाहिए। चिंतन का विषय जीवन है, मृत्यु नहीं। मृत्यु का चिंतन करने से जीवनी-शक्ति का ह्रास होता है, जिससे मृत्यु का भय स्थायी रूप से सूक्ष्म में बस जाया करता है। ऐसी भयपूर्ण स्थिति में कर्तव्यों का पालन यथाविधि नहीं हो पाता, जो स्वयं एक बड़ा दुःखद प्रसंग होता है। मनुष्य जब ठीक प्रकार से अपने कर्तव्यों में लगा रहता है मृत्यु का भय उसके पास नहीं फटकने पाता। कर्तव्यों की अपूर्ति इस विचार के साथ मृत्यु का भय लाती है कि यह नहीं कर पाया, वह करने को रह गया है। सारा जीवन बेकार जा रहा है। यों ही दिन गुजर जाएँगे और एक दिन मृत्यु के मुख में चला जाना होगा। मनुष्य अपनी स्थिति के अनुसार अपने कर्तव्यों का पालन तत्परता से करता रहे तो भी मृत्यु का भय उसे नहीं सताने पाए। फिर वह कर्तव्य छोटे हों अथवा बड़े, साधारण हों अथवा असाधारण, कर्तव्यहीन अकर्मण्यता तो साक्षात् मृत्यु ही कही गई है।

बहुत-से लोग अपने बाद की स्थिति पर विचार करते-करते मृत्यु से भयभीत होने लगते हैं। मेरे बाद न जाने क्या होगा, मेरे मर जाने पर बीबी-बच्चे क्या करेंगे ? कहाँ किसका आश्रय लेंगे ? पता नहीं उन्हें क्या-क्या कष्ट उठाने पड़ेंगे ? इस प्रकार की

कल्पनाएँ निरर्थक कल्पनाएँ ही हैं। ऐसे लोग अपने को ही बीबी-बच्चों का विधाता समझते हैं। वे समझते हैं कि जब तक वे जिदा हैं बीबी-बच्चों के लिए स्वर्ग संचय कर रहे हैं, उनके न रहने के बाद वे यातनापूर्ण नरक में गिर जाएँगे, मानो उन सबकी जीवन-गाड़ी उनकी जिंदगी से चल रही है, जिसके खत्म होते ही सबका खेल खत्म हो जायेगा। दूसरों के लिए अपने को सब कुछ समझना दंभ है। जब हम नहीं थे, संसार का सारा काम चल रहा था और जब नहीं रहेंगे, तब भी सब काम चलता रहेगा। संसार का कोई काम किसी के न रहने से रुकता नहीं। यह बात सही है कि हमारा जीवन आश्रितों के लिए आवश्यक है। किंतु इस आवश्यकता का यह अर्थ कदापि नहीं है कि हम अपने न रहने की कल्पना के साथ उनका जीवन जोड़कर कायरों की तरह मृत्यु-भय से रोते-कलपते रहें। अपने बाद की कल्पना के भयावह चित्र बनाने के बदले हमारी बुद्धिमानी इसी में है कि हम मरने से पूर्व ईमानदारी के साथ अपने आश्रितों की बेहतरी के लिए जो कुछ कर सकें, करें। ऐसा करने से ही अपने बाद की चिंता की सार्थकता है। केवल कल्पना करते रहना मूर्खता ही होगी। मृत्यु को भय का कारण बनाने की अपेक्षा, उसे अपने कर्मों का सजग प्रहरी बनाकर चलने वाले सदाशयी व्यक्ति यशस्वी जीवन के अधिकारी बनते हैं।

मृत्यु उतनी कष्टप्रद नहीं है जितनी कि समझी जाती है। बीमारी आदि के कारण मरने से पूर्व कितना ही कष्ट क्यों न रहा हो, मरने का ठीक समय आने से पूर्व बेहोशी आने लगती है और पीड़ा के समस्त लक्षण विदा हो जाते हैं। मरने पर मनुष्य अनंत शून्य में विलीन हो जाता है। जहाँ उसके सुखद स्वागत की तैयारी पहले से ही रहती है। आमतौर से बूढ़े लोग शांति और संतोषपूर्वक मरते हैं और जवानी में अधिक बेचैनी होती है। यह उद्विग्नता उनकी महत्त्वाकांक्षाओं की अतृप्ति के कारण होती है। जिनके सपने अधूरे रहते हैं, वे मरते समय उतने ही बेचैन पाए जाते हैं। मौत का डर भी कई बार मरने वालों को व्यथित करता है।

यदि मरते समय मरते हुए व्यक्ति को काँच के बक्स में मजबूती से बंद कर दिया जाए, तो कुछ समय में संदूक कहीं न कहीं से टूट जायेगा और उसमें दरार पड़ जायेगी। इसे आत्मा का अंतरिक्ष में पलायन माना जाता है। पर विज्ञानी इसका कारण शरीर में होने वाले रासायनिक तथा गैसीय परिवर्तनों को मानते हैं। उनके कारण संदूक के अंदर की वायु पर दबाव पड़ता है, जिसे काँच सह नहीं पाता और टूट जाता है। मरने के उपरांत किसी का चेहरा विकृत और किसी का शांत दिखाई पड़ता है। इसका कारण यह समझा जाता है कि मृतक की आत्मा शांत या उद्विग्न स्थिति में विदा हुई। पर वैज्ञानिकों की दृष्टि में ऐसा सोचना निरर्थक है। वे कहते हैं—यह मांसपेशियों के ढीलेपन के कारण दिखाई पड़ता है। जीवित अवस्था में मस्तिष्क का, मनोभावों का दबाव चेहरे की मांसपेशियों पर रहता है और वह भाव-भंगिमा से प्रकट होता रहता है; किंतु वह दबाव जब हट जाता है, तो मांसपेशियाँ शिथिल पड़ जाती हैं। यह शिथिलता ही चेहरे की विकृति के रूप में दीखती है। वे कहते हैं—गहरी निद्रा में सोए हुए मनुष्यों का चेहरा भी विकृत ही दिखाई पड़ता है, इसका कारण मांसपेशियों की शिथिलता है। मृतक की चेतना का अंत ही मांसपेशियों को उनकी बनावट के आधार पर शिथिल कर देता है और ये किधर भी लुढ़क पड़ती हैं। देखने वाले इस दृश्य को अपने-अपने ढंग से सोचते और जीवित स्थिति में जो हर्ष, विषाद, संतोष, उद्वेग के लक्षण चेहरे पर होते हैं, उसी आधार पर मृतक की स्थिति का अनुमान लगाते हैं। वस्तुतः मृतक की मुखाकृति का उसके मरण काल में दुःखी या संतुष्ट होने का अनुमान लगाना निराधार है। शिथिलता के कारण चेहरे की मांसपेशियाँ किधर लुढ़क पड़ीं, वही मृतक के चेहरे को देखकर अनुमान लगाया जाना चाहिए।

सामान्यतया मरण का क्रम इस प्रकार चलता है कि मनुष्य का तापमान गिरता है। ९८·६ फॉरेनहाइट से गिरते-गिरते ९६ डिग्री तक उतर आता है। त्वचा में खून जमने लगता है। स्नायु पहले तो

ढीले पड़ते हैं, पर फिर अकड़ने शुरू हो जाते हैं। इसके बाद वे फिर ढीले होने लगते हैं। इन सब परिवर्तनों में प्रायः दो दिन लग जाते हैं। मृत्यु निकट आती चली जा रही है, इसका आभास सामान्य स्थिति में, दो दिन पूर्व ही प्राप्त किया जा सकता है, किंतु विशेष घटनाओं में यह सब बहुत तेजी से भी होता है और कुछ ही घंटों में सारी प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है।

मृत्यु का आक्रमण अकस्मात् बिजली टूट पड़ने की तरह नहीं होता। उसकी प्रक्रिया धीरे-धीरे संपन्न होती है। वृद्धावस्था और रुग्णता वस्तुतः मृत्यु के मंदगति से प्राणी की ओर बढ़ते हुए चरण ही हैं। शस्त्र-आघात, विषपान, हत्या-आत्महत्या, दुर्घटना जैसे प्रसंगों में अपेक्षाकृत जल्दी मौत होती है, तो भी वह अकस्मात् नहीं होती है, उसमें भी क्रमिक गति ही काम करती है। भले ही वह तीव्रता अपना काम जल्दी ही पूरा कर लेती हो।

सुकरात को जहर का प्याला पीना पड़ा। मरते समय के अनुभव वे इस प्रकार बताते रहे कि पैरों और हाथों की ओर से उनकी जान निकल रही है और मृत्यु क्रमशः मस्तिष्क की ओर बढ़ती आ रही है। वे अपने शिष्यों के साथ तब तक वार्तालाप करते रहे, जब तक कि अन्य अंग शिथिल होते-होते मस्तिष्क के शिथिल होने की बारी नहीं आ गई।

अपनी मृत्यु की पूर्व घोषणा करने वालों की अनुभूतियाँ भी इसी प्रकार की होती हैं। वे अनुभव करते हैं कि उनके अंग विलक्षण प्रकार से निर्जीव हो रहे हैं। उनकी स्वाभाविक और सम्मिलित शक्ति का विचित्र रीति से क्षरण हो रहा है। अंतःचेतना इस मृत्यु-संदेश को यदि ठीक तरह अनुभव कर सके तो क्रमिक मृत्यु की स्थिति में आवेश रहित व्यक्ति सहज ही मृत्यु का पूर्वाभास पा सकता है और कई बार तो मृत्यु-समय की अवधि तक घोषित कर सकता है। ऐसी भविष्यवाणियाँ कइयों ने की भी हैं और वे सत्य भी निकली हैं। यह कोई जादू नहीं है, वरन् अपनी आंतरिक स्थिति का सही विश्लेषण या निदान मात्र है। ऐसा कर सकना आवेश रहित संतुलित व्यक्ति के

लिए ही संभव होता है। हड़बड़ाने वालों को तो अनेक तरह के आवेश ही बुरी तरह आ घेरते हैं और वे डरने, घबराने, रोने, पीटने के अतिरिक्त और कुछ कर, समझ नहीं पाते।

महाभारत के यक्ष-प्रश्न प्रसंग में यह पूछे जाने पर कि—आश्चर्य क्या है ? युधिष्ठिर उत्तर देते हैं—"मृत्यु निश्चित है और रोज-रोज कितने ही व्यक्तियों को मरते हुए देखकर लोग अपनी मृत्यु का विचार भी नहीं करते।" जीवन से संबंधित किसी भी घटना पर विचार उत्पन्न होना स्वाभाविक है और जो घटना समूचे वर्तमान से संबंध तोड़ देती है, उसका विचार तो और भी ज्यादा आवश्यक व स्वाभाविक है। परंतु लोग उसी घटना को भूलने की कोशिश करते हैं, जो उनके पूरे अस्तित्व को ही झकझोर देती है।

इस तथ्य को भूलने या भुला देने की कोशिश करते रहने का कारण मृत्यु के प्रति मन में समाया हुआ भय है। यह एक तथ्य है कि मनुष्य जिस चीज को पसंद नहीं करता या जिससे दूर रहना चाहता है, उसके बारे में सोचना भी नहीं चाहता। मृत्यु के बारे में न सोचने या इससे भयभीत होने का कारण जीवन के प्रति मोह ही हो सकता है। लेकिन यदि यह समझ में आ जाए कि मृत्यु, जीवन का अंत नहीं है, तो मृत्यु का भय कम हो सकता है। मृत्यु के बाद जीवन का अस्तित्व बना रहता है, यह बात अब तक केवल दर्शनशास्त्र का विषय थी। विज्ञान और भौतिक सत्ता, पदार्थ सत्ता में विश्वास करने वाले लोग मनुष्य को अभी तक यंत्र मात्र समझते थे, जिसका संचालन केंद्र हृदय और मस्तिष्क भर समझा गया। इन केंद्रों के क्षीण होने, दुर्बल और अक्षम पड़ जाने पर ही मनुष्य का अस्तित्व समाप्त हो जाता है, यह मान लिया गया।

परंतु विज्ञान भी जीवन के गूढ़ रहस्यों को सुलझाने की ओर उन्मुख हुआ है तथा आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा मृत्यु का विश्लेषण करने के लिए किए प्रयास तथा उनके निष्कर्ष भारतीय मनीषियों की इसी धारणा को पुष्ट करते हैं कि मृत्यु जीवन का अंत नहीं है। संयुक्त राज्य अमेरिका के डॉ० रेमंड ए० मूडी ने इस विषय पर वर्षों तक शोध

की। अपनी शोध में उन्होंने तीन प्रकार के व्यक्तियों का अध्ययन किया। इन तीन प्रकार के व्यक्तियों में एक तो वह थे जो किसी रोग या दुर्घटना के कारण मृत्यु के एकदम समीप पहुँच गए, जिनके लिए कहा जा सकता है कि उन्हें नई जिंदगी मिली। दूसरे वे व्यक्ति जो मरणासन्न स्थिति में थे और अपने अनुभव आस-पास के व्यक्तियों को बता रहे थे। तीसरे प्रकार के व्यक्तियों में वे थे, जो डॉक्टर द्वारा मृत घोषित कर दिए जाने के बाद किसी प्रकार जी उठे थे।

इस प्रकार के सैकड़ों व्यक्तियों से बातचीत, उनके कथनों का अध्ययन और अन्य व्यक्तियों के अनुभवों से संगति बिठाते हुए डॉ० रेमण्ड ए० मूडी ने कई ऐसे निष्कर्ष निकाले, जो आधुनिक संसार के लिए तो वास्तव में ही चौंका देने वाले हैं। इन शोधों से प्राप्त निष्कर्षों को उन्होंने 'लाइफ आफ्टर लाइफ' नामक पुस्तक में संकलित किया है। निष्पक्ष ढंग से लिखी गयी इस पुस्तक में वही धारणा पुष्ट होती है कि मृत्यु के बाद भी जीवन का अस्तित्व है और यह कि मृत्यु एक दुःखद घटना होते हुए भी एक रोमांचकारी यात्रा है।

डॉ० मूडी ने उपरोक्त प्रकार के जितने भी व्यक्तियों के अनुभव एकत्र किए, उनमें सबने एक बात स्पष्ट रूप से बतायी कि मृत्यु के समय यह भले ही लगता रहा हो कि अब सब कुछ समाप्त हो जायेगा या हम कुछ भी देखने, सुनने, समझने में असमर्थ हो जाएँगे अथवा अब हम समाप्त ही हो जाएँगे, परंतु ऐसा कुछ नहीं हुआ। सब कुछ ज्यों का त्यों रहा, परिवर्तन इतना भर हुआ कि अब अपने अस्तित्व की अनुभूति शरीर से पृथक् अस्तित्व के रूप में होने लगी।

मरने के बाद पुनः जीवित हो उठी एक महिला मिसेज मार्टिन ने डॉ० मूडी को बताया—मैं अस्पताल में थी, पर डॉक्टरों को मेरे रोग का कुछ पता ही नहीं लग रहा था। मेरे चिकित्सक डॉ० जेम्स ने मुझे छानबीन के लिए नीचे की मंजिल पर रेडियोलॉजिस्ट के पास भेजा। उसने एक खास दवा दी, परंतु मैंने अनुभव किया कि मेरी साँस रुक गयी है। लेकिन इसके बावजूद मैं सब कुछ, देख, सुन और समझ रही थी। डॉक्टर मुझे कृत्रिम उपाय से श्वास दिलवाने की कोशिश कर रहे

थे। मेरे लिए कोई खास दवा लाने का आदेश दिया गया। वे मुझे छू रहे थे, मेरी बाँहों में सुई भी चुभो रहे थे, मैं यह सब देख रही थी, परंतु मुझे कुछ महसूस नहीं हो रहा था।"

कार दुर्घटना का शिकार हुए एक नवयुवक को जिसे मृत घोषित कर दिया गया था, परंतु वह पुनः जी उठा—अनुभव हुआ कि कोई महिला पूछ रही है—"क्या इसका दम निकल गया ?" दूसरे व्यक्ति ने उत्तर दिया था—हाँ, मर गया, पूरी तरह मर गया। इस नवयुवक ने बताया कि "ऐसा सुनते समय वह उन बातचीत करने वाले और आस-पास खड़े दूसरे व्यक्तियों को ही नहीं देख रहा था बल्कि अपने शरीर, चेहरे, सिर में लगे घाव, उनमें से रिसा हुआ खून और टूटी हुई हड्डियों के बारीक-बारीक टुकड़े भी देख रहा था, जैसे किसी दूसरे व्यक्ति का शव देख रहा हो।"

डॉ० रेमंड ए० मूडी के अतिरिक्त जर्मनी के डॉ० श्मिट ने भी ऐसे व्यक्तियों से संपर्क किया, जिन्हें डॉक्टरों ने मृत घोषित कर दिया। उन्होंने भी लगभग उसी प्रकार के अनुभव बताए। निष्कर्षतः उनमें रेमंड ए० मूडी से पूर्णतः साम्य है कि मृत्यु के बाद अपना अस्तित्व शरीर से अलग अनुभव होता है। इसका अर्थ है कि मृत्यु जीवन का अंत नहीं है। मनुष्य का जीवन—अस्तित्व शरीर से सर्वथा भिन्न बात है, शास्त्रकारों ने इसी अस्तित्व को जीव कहा है।

जीवन को शरीर से संबद्ध मान लेने को देह-भ्रांति कहते हुए 'योग वाशिष्ठ' के निर्वाण प्रकरण में महर्षि वशिष्ठ ने कहा है—"यह जीव अस्थि, मांस और रक्त से बने स्थूल हाथ, पैर वाले शरीर को जो जन्म, कर्म और कामना का केंद्र तथा परिणाम रूप में मरणशील है ही—अपना अस्तित्व मान लेता है और देह भ्रांति में पड़ जाता है। तब वह बाल्य, युवा, वृद्धावस्था, जरा-रोग और मरण, भ्रमण, व्यवहार आदि का ज्ञान भी कल्पित करता है।"

अपने अस्तित्व को शरीर तक ही सीमित मानने अथवा महर्षि वशिष्ठ की भाषा में देह-भ्रांति का शिकार होने के कारण ही सुख-दुःख, पीड़ा-व्यथा और कष्ट-वेदना का अनुभव होता है। मृत्यु

के बाद जब देह से संपर्क टूट जाता है और किसी सीमा तक यह भ्रम दूर होता है कि जीवन शरीर तक ही सीमित नहीं था तो उन दैहिक कष्टों से भी मुक्ति मिल जाती है। 'लाइफ इन द वर्ल्ड अनसीन' में एन्थोनी वौगिंजा ने लिखा कि आकस्मिक दुर्घटना के शिकार व्यक्तियों को पीड़ा या व्यथा-वेदना का अनुभव नहीं होता।

भारतीय दर्शन की यह मान्यता है कि इस शरीर में स्थित जीवात्मा ही सब सुख-दुःख, कष्ट-सुविधा और लाभ-हानि का भोक्ता है। शरीर से जीवात्मा का संपर्क टूट जाने के बाद शरीर पर होने वाले प्रभावों की भी कोई संवेदना या अनुभूति-प्रतिक्रिया नहीं होती। युद्ध में मारे गए एक सैनिक की अनुभूतियों का उल्लेख 'फ्रंटियर्स ऑफ द आफ्टर लाइफ' में उसी सैनिक के शब्दों में इस प्रकार किया गया है—गोली लग जाने के कारण मैं मूर्च्छित-सा हो गया था। कुछ समय बाद मैं मूर्च्छा से जगा तो उस समय मैंने देखा कि मैं अपने शरीर से अलग हूँ और भौचक्का-सा खड़ा हूँ। मैंने देखा—मेरे शरीर के आस-पास और भी कई शरीर पड़े हैं। मुझे लड़ाई की बात याद आ गयी, परंतु इस बात की मुझे कोई स्मृति नहीं है कि गोली लगने के बाद क्या हुआ था ? हाँ, इतना अवश्य याद है कि उस समय मुझे भयंकर पीड़ा हो रही थी, परंतु अब इस पीड़ा का लेशमात्र भी नहीं हो रहा था। ऐसा प्रतीत होता था कि शरीर से विलग होने के बाद मैं सारी पीड़ाओं से मुक्त हो गया हूँ।

प्रायः लोग दुर्घटना के समय मूर्च्छित हो जाते हैं और उस स्थिति में ही उनकी मृत्यु हो जाती है। दुर्घटना में मृत घोषित कर दिए गए परंतु बाद में जीवित हो उठे व्यक्तियों से संपर्क कर, उनके अनुभवों का अध्ययन करने के बाद एस० बेडफोर्ड ने अपनी पुस्तक 'डेथ एंड आफ्टर डेथ' में लिखा है—दुर्घटनाओं के कारण घटित होने वाली मृत्यु की घटना बड़ी तीव्र गति से घटती है और जीव को शरीर से विलग हो जाने का अहसास भी नहीं होता। ये आकस्मिक दुर्घटनाएँ बड़ी निर्मम, भीषण और दर्दनाक होती हैं, परंतु जो मर जाते हैं, उनके लिए मृत्यु बड़ी विस्मयपूर्ण घटना होती

है। दुर्घटना के तत्क्षण बाद मर जाने वाले व्यक्तियों को किसी पीडा का आभास इसलिए नहीं होता कि जीवात्मा की चेतना हमारे भौतिक शरीर की चेतना से बहुत आगे होती है और उसे यह पहले ही मालूम हो जाता है कि अगले क्षण आकस्मिक मृत्यु होनी है, क्योंकि इस दुर्घटना के कारण यह शरीर जीवात्मा के रहने योग्य नहीं रह जायेगा। इसलिए जीवात्मा स्थूल शरीर के दुर्घटनाग्रस्त होने से पहले ही उसे छोड़ देता है। यही कारण है कि दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति मृत्यु और दुर्घटनाजनित पीड़ा का अनुभव नहीं करता।

डॉ० रेमंड ए० मूडी, जिनकी 'लाइफ आफ्टर लाइफ' पुस्तक का उल्लेख आरंभ में ही किया जा चुका है—के निष्कर्ष भी उपरोक्त निष्कर्ष से मिलते-जुलते हैं। इन परामनोवैज्ञानिकों के अतिरिक्त दूसरे कई परामनोवैज्ञानिकों तथा शोध-संस्थाओं ने ऐसे व्यक्तियों के अनुभव संकलित किए हैं, जो मृत्यु के उस पार जाकर 'लौट' आए। इन विवरणों में भिन्नताएँ मिली हैं, परंतु कुछ समानताएँ भी पायी गयी हैं। पहली समानता तो यही है कि मृत्यु जीवन का अंत नहीं है, उसके बाद भी जीवन का अस्तित्व रहता है। इसका अर्थ है—जीवन का अस्तित्व शरीर जन्म और मृत्यु के बीच तक ही नहीं है, बल्कि जीवन उसके पूर्व भी है और बाद में भी है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में यही बात अर्जुन से हजारों वर्ष पूर्व कही है—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्।।

—गीता २.१२

अर्थात्—न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था अथवा तू नहीं था अथवा यह राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि हम सब लोग इससे आगे नहीं रहेंगे।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति।।
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।

—गी. २.१७-१८

अर्थात्—जिससे यह संपूर्ण जगत् व्याप्त है, उस (चेतन सत्ता) को तू नाश रहित जान। उस अविनाशी का नाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है। इस नाशरहित जीवात्मा के यह सब शरीर ही नाशवान् कहे गए हैं, जबकि यह आत्मा किसी काल में भी जन्म नहीं लेती है और न यह मरती ही है अथवा कभी होकर दुबारा होने वाली भी नहीं है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के नाश होने पर भी उसका नाश नहीं होता।

प्राप्त विवरणों में शरीर और चेतना की भिन्नता के अतिरिक्त दूसरी समानता चेतना की प्रधानता संबंधी है। शरीर इस चेतन शक्ति के कारण स्पर्श, ग्रहण, संवेदन, स्पंदन और क्रियाशीलता ग्रहण करता है अर्थात् शरीर अपनी सार्थकता के लिए आत्मतत्त्व पर निर्भर है, जबकि आत्मचेतना शरीर की शक्ति सामर्थ्य या स्थिति पर रंच मात्र भी निर्भर नहीं है। फटे हुए वस्त्र को व्यर्थ और अनुपयोगी जानकर जिस प्रकार उतारकर फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी जीर्ण-अशक्त शरीर को अपने रहने योग्य न समझकर उसका परित्याग करता है। भारतीय मनीषियों के अनुसार यह प्रतीति जीवन को विभाजित और खंड में देखने की दुर्बल दृष्टि के कारण ही होती है अन्यथा जीवन तो शाश्वत और सनातन है—एक अंतहीन यात्रा है। मृत्यु उस यात्रा का एक पड़ाव भर है। इसलिए मृत्यु से भयभीत होने का कोई कारण नहीं है।

यक्ष प्रश्न-प्रसंग में युधिष्ठिर ने हमेशा मृत्यु की घटनाएँ घटती देखकर भी उससे भयभीत होने और पलायन करने की प्रवृत्ति को संसार का आश्चर्य कहा है। जान लिया जाए कि मृत्यु कोई विचित्र, दुःखद और भयावह घटना नहीं है तथा उसे समझने और स्वीकार करने की मनःस्थिति बना ली जाए, तो जीवन में एक अद्भुत परिवर्तन की संभावना बन जाती है।

❑ ❑

आसक्ति मनुष्य को मृत्यु के बाद भी घुमाती है

आकांक्षाएँ मनुष्य की चेतना का विशिष्ट लक्षण हैं। भोजन, नींद, काम-चेष्टाएँ और प्रजनन-क्रम सभी अन्य प्राणियों की तरह प्रकृत प्रेरणा से उसे भी प्रेरित-प्रभावित करते हैं। किंतु इसमें भी उसकी आंतरिक आकांक्षाएँ प्रेरणा की दिशा व स्वरूप निर्धारित करती हैं। यही कारण है कि इन प्राकृतिक आवेगों की भी मनुष्यों में अन्य प्राणियों जैसी समरूपता नहीं पाई जाती।

इन सामान्य जैविक हलचलों के अतिरिक्त जो मनुष्य की बहुविध गतिविधियाँ हैं, प्रगति के प्रयास और चरण हैं, वे सब आकांक्षाओं तथा उनकी पूर्ति के लिए किए गए कार्यों के ही परिणाम हैं। आकांक्षाएँ ही मनुष्य को किसी लक्ष्य को स्थिर करने, तदनुरूप योजना बनाने और उसमें मनोयोग से जुट पड़ने की प्रेरणा देती हैं। मनुष्य की जीवन-पद्धति और क्रियाकलापों पर इन आकांक्षाओं का बहुत प्रभाव पड़ता है।

प्रत्येक व्यक्ति अपनी आकांक्षाएँ पूरी करने का प्रयास करता है। यह उचित भी है तो भी भारतीय तत्त्वदर्शन में निष्काम भाव से कर्म करने पर बल दिया गया है। सामान्यतः लोगों को यह बात बहुत विचित्र लगती है। भला फलाकांक्षा के बिना काम कैसे किया जा सकता है ? फिर यह भी पूछा जा सकता है कि निष्काम भाव से कर्म करने की सामर्थ्य और सिद्धि अर्जित करना भी क्या स्वयं एक आकांक्षा-कामना नहीं है ?

वस्तुतः निष्काम भाव से कर्म का अर्थ आकांक्षाविहीन या प्रयोजनविहीन कार्य—प्रवृत्ति नहीं है। भारतीय मनीषियों का आशय यह था कि किसी भी ऐहिक आकांक्षा के प्रति इतनी आसक्ति न

पाल ली जाए, कि उसकी पूर्ति न होने पर मन अशांति, अतृप्ति और असंतोष से भरा रहे, क्योंकि एक तो फल सदैव पुरुषार्थ पर ही निर्भर नहीं करता, परिस्थितियों पर भी निर्भर करता है। दूसरे संतोष-शांति परिणाम या उपलब्धियों की नहीं अपने मन की ही भाव-संवेदना है, जो व्यक्ति अमुक फलाकांक्षा के साथ बाँध लेने पर उनकी पूर्ति से अनुभव करता है। इस तथ्य को समझाना भारतीय दर्शन का एक उद्देश्य रहा है। इसे समझ लेने पर जहाँ निरंतर प्रगति-पथ पर बढ़ने की अनवरत् प्रेरणा प्राप्त होती रहती है, वहीं व्यग्रता, क्षोभ, खिन्नता, अशांति और कुंठा भी नहीं पनप पाती। "हर दिन नया जन्म, हर रात नयी मृत्यु" और असंग भाव से कर्तव्य करते रहने के जीवन-सूत्र इसी दार्शनिक दृष्टि से प्राप्त होते रहते हैं।

जीवन के रहस्यों पर से जितना ही पर्दा उठता जाता है, उतना ही भारतीय मनीषियों के इस दार्शनिक प्रतिपादन की आवश्यकता और वास्तविकता स्पष्ट होती जाती है। यह ज्ञात होता जाता है कि अत्यधिक आसक्ति व्यक्ति को न केवल इस जीवन में अशांत बनाए रखती है वरन् मृत्यु के बाद भी वह उसी तृष्णा से मनुष्य को घुमाती, बेचैन बनाए रहती है। भूत-प्रेत बने रहने और मारे-मारे भटकते-फिरने की दयनीय विवशता का, यह आसक्ति का अतिरेक ही कारण बनता है।

प्रायः प्रेतात्माओं के किस्सों में दंतकथाओं, कपोल-कल्पनाओं, ठग-व्यापार और प्रवंचनाओं की ही अधिकता होती है। किंतु, इस धुंध और कुहासे से पृथक् अनेक वास्तविक तथ्य उपलब्ध हुए हैं और परामनोविज्ञान के अन्वेषणों से प्रामाणिक घटनाएँ सामने आई हैं। उनसे एक बात पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है कि जहाँ मरने के बाद अनेक मनुष्य अपने इस जीवन के श्रम की थकान को दूर करने के लिए परलोक की गुफा में विश्राम लेते हैं, स्वर्ग-नरक के स्वप्न दृश्यों में विचरण के बाद थकान और बोझ से मुक्त हो नई क्षमता के साथ सक्रिय हो उठते हैं, वहीं आसक्ति और आवेश की

अधिकता से उद्विग्न, विक्षुब्ध, अशांत, अतृप्त, आतुर लोग प्रेत बनकर भटकते हैं और अपनी आसक्ति की तृप्ति के प्रयास में वर्षों यों ही गुजार देते हैं। आज तक प्रेतों के बारे में जितने प्रामाणिक विवरण मिले हैं, सभी दो तथ्यों की पुष्टि करते हैं। पहला तो यह कि अमुक वस्तुओं, साधन-उपकरणों या प्रवृत्तियों से प्रगाढ़ आसक्ति ही प्रेत योनि की भटकन का कारण बनती है। दूसरा यह कि व्यक्ति का संसार-क्षेत्र इस जीवन में भी सक्रिय एवं प्रभावी रहता है। दुष्ट आत्माएँ प्रेत योनि पाकर भी दूसरों को पीड़ा पहुँचाने, आतंकित करने और अनिष्ट करने में ही जुटी रहती हैं। जबकि सज्जन लोग अपनी आसक्ति के कारण भटकते तो हैं, परंतु दूसरों को क्षति नहीं पहुँचाते। उल्टे, यथाशक्ति यदा-कदा सहायता करते हैं।

अमेरिका आज दुनिया का एक अग्रणी देश है। वैज्ञानिक प्रगति ही उसकी समृद्धि का कारण है। विज्ञान के केंद्र इस देश के राष्ट्रपति का निवास "ह्वाइट-हाउस" कहलाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से इतने विकसित समाज के राष्ट्रपति कोई अविकसित-दुर्बल मनःस्थिति वाले लोग नहीं हो सकते। बुद्धि-सामर्थ्य और राजनैतिक चातुर्य के बल पर ही वे इस पद पर पहुँचते हैं। इस राष्ट्रपति-निवास में रहने वाले प्रत्येक राष्ट्रपति ने अब तक एक अनुभव समान रूप से किया है, वह है अमेरिका के महान् राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन के भूत का। यह भूत हाथ में घड़ी, सर पर टोप धारण किए एक कमरे से दूसरे कमरे में आता-जाता सैकड़ों बार देखा जा चुका है। पर उसने कभी किसी को कोई क्षति नहीं पहुँचाई, न ही आतंकित किया। हाँ, एक राष्ट्रपति लिंडन जॉनसन की पत्नी अवश्य उन्हें देखने के बाद वहाँ सोने को तैयार ही नहीं हुई और उनके रात्रि-शयन का प्रबंध ह्वाइट हाउस में ही दूसरे कोने के कमरों में किया गया। पर शेष राष्ट्रपति-परिवार वहीं रहते रहे हैं। वे अपना काम करते रहते हैं और यदा-कदा उस स्वर्गीय राष्ट्रपति को देखते रहते हैं। अब्राहम लिंकन एक श्रेष्ठ व्यक्ति

थे—मानवीय उदारता और सत्प्रवृत्तियों से भरपूर; किंतु उनकी हत्या कर दी गई थी। लगता है लिंकन की अशांत आत्मा अभी तक 'ह्वाइट हाउस' के प्रति अपनी आसक्ति छोड़ नहीं पाई है। किंतु अपनी सज्जन-प्रकृति के कारण उन्होंने वहाँ कभी कोई उत्पात भी नहीं किया।

अमेरिका के ही महान् स्वातंत्र्य-योद्धा राष्ट्रपति जार्ज वाशिंगटन को भी वाशिंगटन शहर के पीछे नदी के तट पर शहीदों की समाधियों के बीच विचरण करते सैकड़ों बार देखा जा चुका है। लगता है कि स्वर्गीय राष्ट्रपति अपने प्रिय साथियों के प्रति अगाध स्नेह से बँधे होने के कारण ही वहाँ घूमते रहते हैं। हो सकता है, वे वहाँ दबी-सिमटी आत्माओं के मार्गदर्शन के लिए ही अभी तक रुके हों और सबके साथ ही नया जीवनक्रम शुरू करने के अभिलाषी हों।

पत्रकार श्री जनार्दन ठाकुर ने लखनऊ में प्रेतात्माओं का जो प्रत्यक्ष अनुभव किया उसके आधार पर उन्होंने ७ मार्च १९७७ के 'संडे' में एक लेख ही लिख डाला और प्रश्न किया कि क्या प्रेतात्माओं का अस्तित्व है ?

श्री ठाकुर का कहना है कि एक रात जब वे लखनऊ के प्रेस क्लब में ऊपरी हिस्से में रुके थे और टाइपराइटर पर एक रिपोर्ट टाइप कर रहे थे, तभी उन्हें नीचे हाल में टेबिल टेनिस के खेलने की आवाज सुनाई पड़ी। देर तक सुनते रहने पर, उत्सुक ठाकुर ने कमरे से निकलकर रेलिंग से नीचे झाँका, तो वहाँ बस टेनिस की गेंद मेज की एक ओर से दूसरी ओर जा रही थी। खिलाड़ी दिख नहीं रहे थे। श्री ठाकुर घबड़ा गए। बाद में पता चला कि और भी कई लोग रात में इन प्रेतात्माओं को यहाँ टेबिल टेनिस खेलते देख चुके हैं। लगता है, उनकी आपसी आसक्ति और खेल तथा इस भवन से लगाव उन्हें मरने के बाद भी वहीं घुमा रहा है।

"ब्रिटिश गवर्नमेंट इन इंडिया" पुस्तक के अनुसार अंग्रेज गवर्नर जनरल लार्ड कर्जन ने कलकत्ता स्थित "हेस्टिंग्ज हाउस"

में अपने एक पूर्ववर्ती गवर्नर जनरल लार्ड वारेन हेस्टिंग्ज का भूत कई बार देखा था। कभी वे देखते कि हेस्टिंग्ज चार घोड़ों की बग्घी में बैठकर आए। इमारत के सामने बग्घी रुकी और हेस्टिंग्ज उससे उतरकर सीढ़ियाँ चढ़ रहे हैं। वहाँ ऊपर वे एक निश्चित कमरे में पहुँचकर एक दराज में कुछ ढूँढ़ते से रहे हैं। हर बार यही क्रम। कर्जन ने पता लगाया तो ज्ञात हुआ कि कुछ महत्त्वपूर्ण सरकारी दस्तावेज और कुछ निजी बहुमूल्य वस्तुएँ हेस्टिंग्ज की इसी दराज से गुम हो गयी थीं। उस समय 'कलकत्ता-गजट', जो कि सरकारी पत्र था, में उन चीजों की खोज करने वाले को बड़ी रकम इनाम में देने की घोषणा करने वाला विज्ञापन भी छपा था। जाहिर है कि वारेन हेस्टिंग्ज का मन उनके मरने के बाद भी उन्हीं वस्तुओं से बँधा था।

परामनोविज्ञान-अनुसंधानों में रुचि लेने वाले और उस दिशा में कार्य करने वाले श्री कीर्तिस्वरूप रावत के अनुसार उन्हें एक बार ट्रेन में उनकी एक पूर्व परिचित महिला मिली। बीच में ही वे अदृश्य हो गईं, जिससे ज्ञात हुआ कि वह उनका भूत था। इसी भूत ने श्री रावत को एक-दूसरे भूत का किस्सा सुनाया। एक लेखक की एक पुस्तक का जयपुर में विमोचन होना था। वे ट्रेन से वहाँ आ रहे थे। मार्ग में उनका हृदयावरोध से निधन हो गया, तब से वे लेखक महोदय ट्रेन में कई लोगों को ठीक उस दिन १४ नवंबर को मिलते और बताते कि मैं जयपुर जा रहा हूँ, मेरी अमुक पुस्तक का विमोचन होना है। उक्त महिला को भी वे सज्जन मिले थे। कुछ दिनों बाद यह महिला भी चल बसी थी और अब भूत रूप में श्री रावत को मिली। यदि यह घटना सत्य है तो स्पष्ट है कि उक्त लेखक और उक्त महिला दोनों ही अपनी पूर्व आसक्तियों से बँधे अवश्य थे। श्री रावत एक बौद्धिक व्यक्ति थे तथा उन्हें दृष्टिभ्रम या दिवास्वप्न होने की गुंजाइश कम ही थी। जब तक यह आसक्ति नहीं छूटती, व्यक्ति उसी चक्कर में फँसा रहता है। आकांक्षा पूरी होने पर या अपनी मृगतृष्णा से जी उकता जाने पर

अथवा भोग भोग लेने पर जब वह आसक्ति समाप्त हो जाती है तो पूर्व संस्कारों के साथ अगला स्वाभाविक जीवन प्राप्त हो जाता है।

मृत्यु के तत्काल बाद दूरस्थ आत्मीयों को दीखना और फिर सदा के लिए अदृश्य हो जाना ऐसी ही आसक्ति और उसकी पूर्ति के बाद, अपने स्वाभाविक गंतव्य की दिशा में प्रस्थान का परिचायक है। ऐसी घटनाएँ आए दिन घटती देखी जाती हैं। कई बार यह आसक्ति एक अरसे बाद पूरी होती है।

आस्ट्रेलिया के सिडनी नगर के नागरिक कैप्टन टाउन्स अपनी मृत्यु के डेढ़ माह बाद इस आसक्ति से छूटे। वे एक रोग से मर गए थे। मृत्यु के डेढ़ माह बाद एक दिन जब उनके दो मित्र शोक-संवेदना व्यक्त करने आए तो पत्नी ने उन्हें बैठने टाउन्स के कमरे में भेज दिया व चाय बनाने लगी। वहाँ उन मित्रों ने देखा कि अलमारी में से टाउन्स के चेहरे का आभास हो रहा है। तभी टाउन्स की लड़की कमरे में आई। उसने देखा तो भावावेश में चीख उठी—"पिताजी !" श्रीमती टाउन्स भी तब तक आ गईं। पति को देख, भाव-विह्वल हो वे हाथ फैलाए उधर बढ़ीं। जैसे ही उनकी उँगली अलमारी को छू गई टाउन्स की वह प्रतिच्छवि कॉपी और सदा के लिए अदृश्य हो गयी। संभवतः पत्नी के अंतिम स्पर्श की प्रबल आसक्ति रुग्ण टाउन्स में शेष रह गई थी।

मेरठ छावनी की माल रोड में आधी रात के आस-पास कुछ प्रेतात्माओं को भटकते देखने का दावा करने वालों की भी कमी नहीं। बताया जाता है सन् १८५७ के स्वतंत्रता-संग्राम के समय विद्रोही सिपाहियों ने मालरोड स्थित बंगलों में रहने वाले अनेक अंग्रेज नर-नारियों को मार डाला था, उन्हीं की ये प्रेतात्माएँ हैं।

अब तक इंग्लैंड में प्रेतात्माओं की संख्या बहुत अधिक पाई गई है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि वहाँ पुराने मकान, पुराने फर्नीचर ज्यों के त्यों सजाकर और सँजोकर रखने का बड़ा शौक है। इन वस्तुओं और इमारतों को देखकर प्रेतात्माओं को अपनी पुरानी गतिविधियाँ याद हो आती हों और वे उनका नया

'रिहर्सल' करने लगते हों। दूसरे देशों में पुराने अवशेष उसी रूप में सुरक्षित न होने से प्रेतात्माओं में वैसी ललक अधिक न उभर पाती हो। फिर, जो लोग प्राचीन वस्तुओं को उसी रूप में सँजोकर रखने के इतने शौकीन हैं, उन्हें मरने के बाद भी अपनी प्राचीन वस्तुओं से मोह रहा आता हो, तो क्या आश्चर्य ? अमेरिका में भी भूत-प्रेत काफी देखे पाए जाते हैं। इसका कारण भी अमेरिकी लोगों की प्रचंड आसक्ति-मूलक प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं।

हमारे पूर्वज ऋषि इसीलिए जहाँ एक ओर मृतात्माओं की प्रिय वस्तुएँ उसी रूप में सँजोकर रखने के स्थान पर उनके उचित लोगों को दान का आग्रह करते रहे हैं, ताकि वे लोकमंगल के पुण्य-प्रयोजन का अंग बन सकें, वहीं दैनंदिन जीवनक्रम में भी आसक्ति-मोह के अतिरेक को दूर करने का परामर्श व प्रेरणा देते रहे हैं, ताकि चित्त पर स्मृतियों-आसक्तियों का बोझ नहीं रहे और हल्के-फुल्के होकर यह जीवन भी जिया जा सके और अगले जीवन में भी सहज गति में कोई बाधा नहीं रहे। वासनाओं और आवेशों का आधिक्य न केवल इस जीवन को भार बना डालता है, अपितु अगले जीवन को भी अभिशापमय बनाकर रख देता है। अतः उनसे मुक्त रहने का अभ्यास किया जाना चाहिए। तभी जीवन का स्वाभाविक आनंद प्राप्त हो सकता है।

मृत्यु के समय जिन लोगों को कष्ट प्रतीत होता है, छटपटाहट होती है, वे वही लोग होते हैं, जो इहलौकिक जीवन से अत्यधिक आसक्ति रखते हैं तथा जिनकी इस शरीर से जुड़ी वासनाएँ अतृप्त और प्रज्वलित रही होती हैं। इस शरीर से दूर और अपने परिचित परिवेश से दूर जाने की कल्पना मात्र से वे घबड़ाने लगते हैं। वह घबराहट और मानसिक उत्ताप ही मृत्यु के समय छटपटाहट के रूप में व्यक्त होते हैं। उसका वास्तविक शारीरिक पीड़ा से कोई संबंध नहीं होता। शारीरिक यातना का तो उस समय प्रश्न ही नहीं, क्योंकि मृत्यु के तत्काल पहले चेतन मन पीछे धकेल दिया जाता है अर्थात् बेहोशी की-सी दशा हो जाती है और संस्कारों

से भरा अवचेतन मन उभरकर हावी हो चुका होता है। आसक्ति और वासना के अनेकविध संस्कार ही मनोव्यथा और अंतर्वेदना के आधार बनकर उस छटपटाहट के रूप में दिखाई पड़ते हैं।

इसीलिए अपने यहाँ मनीषी पूर्वजों ने ऐसी व्यवस्था प्रचलित कराई थी कि मृत्यु के समय व्यक्ति से स्वयं ही दान का संकल्प कराया जाए। लोगों को जीवन में बार-बार बताया जाता था कि मरने के पूर्व अपनी प्रिय वस्तुएँ सत्पात्र ब्राह्मण को दान कर देनी चाहिए। इसका उद्देश्य यही था कि स्वेच्छा से दान करने पर उन वस्तुओं के प्रति उस व्यक्ति का ममत्व समाप्त हो। उसकी आसक्ति का बंधन टूटे ताकि वह मृत्यु के बाद दूसरे लोक में शांति के साथ जा सके। वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति आकर्षण तथा तीव्र राग से बँधा-बिंधा, देह-नाश के बाद भी वहीं आस-पास न मँडराता रहे।

यह परंपरा विवेक सम्मत एवं श्रेष्ठ उद्देश्य से परिपूर्ण है। आसक्ति का बंधन देहांत के बाद भी व्यक्ति को जकड़े रहकर कष्ट-क्लेश ही देता है। रागात्मक तीव्रता दिवंगत जीव को पुनः-पुनः उसी घर, उन्हीं व्यक्तियों के समीप खींचती है। अतः न केवल मृत्यु के कुछ समय पूर्व दान आदि के द्वारा इस आसक्ति से मुक्त होने की कोशिशें जरूरी हैं, अपितु संपूर्ण जीवन का क्रम ही ऐसा ढालना चाहिए, जिससे आसक्ति की प्रगाढ़ता न पनपे और अनासक्ति-भाव जीवन तथा चिंतन में घुल-मिल जाए। प्रसन्न-प्रफुल्ल, हलकी-फुलकी, मोहावेश रहित जिंदगी जीने का अभ्यास कर लेने पर मृत्यु के समय न तो पीड़ा होती है, न छटपटाहट।

○ उत्कृष्ट जीवन जिएँ, भव्य मृत्यु वरें

भागवत् में एक अत्यंत मार्मिक-आख्यायिका आती है। देवर्षि नारद ने मरते हुए व्यक्ति को देखा, उनका अंतःकरण जीव के मायावी बंधन देखकर द्रवित हो उठा। आत्मा ने तब तक शरीर छोड़ दिया था, उसके शव के समीप खड़े कुटुंबीजन रुदन कर रहे

थे। पुत्र भी विलाप कर रहा था कह रहा था—हाय ! पिताजी ने मुझे असहाय छोड़ दिया। नारद ने जीव को समझाया, वत्स ! इस मायावी बंधन को तोड़ मेरे साथ चल, विराट् विश्व में एक से बढ़कर एक स्वर्गीय स्थल हैं। चल और जीवन मुक्ति का आनंद ले।

किंतु मृतक पिता की आसक्ति उन विलाप कर रहे कुटुंबियों से जुड़ी थी, नारद की ओर उसने ध्यान ही नहीं किया, अपने वासनामय सूक्ष्म शरीर से वहीं घूमता रहा। परिवारीय जन शोक मनाकर धीरे-धीरे अपनी सामान्य जिंदगी बिताने लगे, किंतु मृतात्मा के विशृंखलित चित्त में बेटे का विलाप ही गूँजता रहा, उसने पशु योनि में प्रवेश किया, बैल हो गया और बैल बनकर अपने किसान बेटे की सेवा करने लगा।

कुछ दिन पश्चात् नारद पुनः बैल के पिंजरे में बंद उस जीव से मिले और पूछा—तेरा मन हो तो चल और उच्च लोकों की उपलब्धियों का आनंद प्राप्त कर। बैल ने कहा—भगवन् ! अभी तो जैसे-तैसे बेटे की आर्थिक स्थिति कुछ नियंत्रित हो पाई है, अभी कहाँ चलूँ ? नारद चले गए। जीव डंडे खाकर भी बेटे की आसक्ति का शिकार बना रहा। मृत्यु के समय भी बेटे की आसक्ति कम न हुई, सो वह कुत्ता हो गया, हर बार बेटे को देखने की मोह-भावना उसे क्रमशः अल्पायु योनि में प्रविष्ट कराती रही। कुत्ता बनकर वह बेटे की संपत्ति की रक्षा में तल्लीन हो गया। पूर्व जन्मों के संस्कार और मोह-भावना उसमें जब-जब उमड़ती, वह भोजन के लिए चौके की ओर बढ़ता, पर तभी मिलती दुत्कार और डंडे—कुत्ता ड्यौढ़ी की ओर भागता। पर बेटे की रक्षा की बात उससे खून से जोंक की तरह चिपकी हुई थी, सो उसने मालिक बने पुत्र का दरवाजा नहीं छोड़ा।

देवर्षि नारद फिर आए और चलने को कहा, तो कुत्ते ने कहा—भगवन् ! आप देखते नहीं। मेरे बेटे की संपत्ति को चोर-बदमाश ताकते रहते हैं, ऐसे में उसे छोड़कर कहाँ जाऊँ ?

देवर्षि इसको समझते थे कि इस मोहासक्ति में उसकी अपनी वासनाएँ और तृष्णाएँ भी जुड़ी हैं। वह समझाते—वत्स ! तू जिन इंद्रियों को सुख का साधन समझता है, वे तुझे बार-बार छोड़ देती हैं, फिर तू उनके पीछे बावला क्यों बना है ? किंतु कुत्ते को समझ कहाँ से आती, मानवीय सत्ता तक तो सत्य को झाँक नहीं पाती।

जीव को गुस्सा आया—मेरे द्वारा कमाए अन्न का एक अंश भी यह मेरा तथाकथित बेटा देता नहीं—इस बार ऐसा करूँगा कि मेरी कमाई तो मुझे खाने को मिले—इस तरह वह चूहा बना। उस स्थिति में नारद ने पुनः दया की, किंतु तब भी उसे ज्ञान न हुआ, चूहों से तंग किसान ने विष मिले आटे की गोलियाँ रखीं, चूहा मर गया। मृतक चूहे ने देखा कि विष देकर मेरा प्राणांत किया गया है। उसका मन क्रोध और प्रतिशोध की भावना से जल उठा। फलतः उसे सर्प योनि मिली। जीवन के बदले जीवन की क्रोधाग्नि के भड़कते ही सर्प ज्यों ही बिल से बाहर निकला, उन्हीं घर वालों ने, जिनकी आसक्ति उसे निम्नतर योनियों में भ्रमण करा रही थी, लाठियों, पत्थरों से उसे कुचल-कुचल कर मार डाला। बेचारे नारद ने अब इधर जाना ही व्यर्थ समझा, क्योंकि वे समझ चुके थे—अभी वह इस प्रतिशोध की धुन में चींटी, मच्छर, मक्खी न जाने क्या-क्या बनेगा ?

कहानी के शास्त्रीय प्रतिपादन संभवतः आज के बुद्धिजीवी लोगों को प्रभावित न करें। वे इसे मात्र अंध-विश्वास और पौराणिक गाथा कहकर उसकी उपेक्षा कर दें, किंतु सत्यान्वेषी पश्चिमी जगत् के मूर्धन्य वैज्ञानिकों, प्रबुद्ध व्यक्तियों, डॉक्टरों और पत्रकारों को जीवन और मृत्यु की संध्या के जो अनुभव हुए हैं, वह इस आख्यायिका और हिंदुओं की मरणोत्तर संस्कार-परंपरा का पूरी तरह समर्थन करते हैं। यहाँ कुछ ऐसी ही घटनाएँ दी जाती रही हैं, जो मरणासन्न व्यक्तियों के अनुभव में आए हैं।

कई बार यों हुआ कि किसी व्यक्ति की मृत्यु हो गई, मृत्यु के समय सुप्रसिद्ध डॉक्टर भी विद्यमान थे। लोग अंतिम संस्कार की

तैयारी करने लगे, तभी एकाएक मृतक की चेतना उसी शरीर में पुनः लौट आई और वह जीवित उठ बैठा। कुछ व्यक्तियों का मस्तिष्क प्रखर और हृदय संवेदनशील रहा है, उन्होंने अपनी चेतना को जीवन और मृत्यु की देहलीज पर, संधि पर स्थिर कर उस पार जो कुछ देखा उसका वर्णन मरते-मरते कर दिया। किन्हीं माध्यमों के द्वारा मृतात्माओं से संपर्क का सम्मोहन विज्ञान भारतवर्ष ही नहीं पश्चिमी देशों में भी प्रचलित है। इन अनुभवों की सत्यता की परख उनके द्वारा बताई गई इन अतिरिक्त बातों और घटनाओं से होती है, जो मृतक के अतिरिक्त और कोई नहीं जानता था। पीछे माध्यम के द्वारा बताए गए तथ्यों के आधार पर खोज की गई तो वह घटनाएँ सत्य पाई गईं।

इस तरह की घटनाओं के सैकड़ों उदाहरण डॉ० राबर्ट कूकत बी० एस-सी० (साइकोलॉजी डी० एस-सी०, पी-एच० डी०) पूर्व निर्देशक वनस्पति विज्ञान एडरबीन विश्वविद्यालय की पुस्तक "टेकनिक्स ऑफ एस्ट्रल प्रोजेक्शन', एंथोनी बोर्गिया लंदन की पुस्तक "मोर एबाउट लाइफ इन दी वर्ल्ड अनसीन", डब्ल्यू० एच० ऐतान लंदन द्वारा प्रकाशित डॉ. जेम्स पाइक की पुस्तक "दि अदर साइड", डब्ल्यू. टी. स्टेड की पुस्तक "आफ्टर डेथ", "बियांड दि होराइजन", "पोस्टमार्टम जनरल", "तगइफ वर्थ लिविंग' तथा "सुप्रीम एडवेंचर" जिन्हें क्रमशः ग्रेस रोशर (प्रकाशक मेसर्स नेविल्के स्पेयर मैन ११२ ह्वाइट फील्ड स्ट्रीट लंदन), मिसेज हैस लोप (प्रकाशक मेसर्स चार्ल्स टेलर बुक हाउस लंदन) तथा जियोलाजिकल सर्वे लंदन के तत्कालीन प्रधानाचार्य और भूगर्भ विज्ञानवेत्ता हैं। इस तरह के विख्यात व्यक्तियों की अनुभूतियों को यों ही ठुकराया जाना मानवीय आस्था के लिए घातक नहीं तो अशोभनीय अवश्य कहा जायेगा। इन पुस्तकों के कुछ उद्धरण—

लॉरेंस ऑफ अरेबिया जिन्हें लोग स्काट कहकर बुलाया करते थे, ने अपने अनुभव इन शब्दों में व्यक्त किए हैं—यह एक ऐसी दुनिया है, जहाँ न प्रकाश है और न अंधकार है, धूमिल

वातावरण जान पड़ता है, ऐसा लग रहा है कि दीपक बुझ रहा है और मुझे निद्रा घेरती चली आ रही है। इस समय मेरी इच्छाएँ नींद में न जाने के लिए झगड़ती और मचलती-सी लगती हैं किंतु ....।

"बियांड दि होराइजन" में गोर्डन का अनुभव—मेरी चेतना शरीर से बाहर आ गई, मैंने इतना हल्कापन अनुभव किया, मानो सारे शरीर की थकावट विश्राम में बदल गई हो, पर मेरे मन में बार-बार पत्नी रोशर का स्नेह उमड़ता था, अतएव वहाँ से हटने का मन नहीं कर रहा था। पत्नी की आँखों में आँसू थे, उनकी रोने की आवाज और वह जो भी कहती थीं, उसे मैंने स्पष्ट सुना। उन्होंने यह शब्द कहे—मैंने उनको समझाने, उनके आँसू पोंछने का प्रयास भी किया, पर न तो मुझ से वे धुले और न किसी ने मेरी आवाज सुनी, तब मैंने अनुभव किया कि जाने की अवस्था है, उस समय बहुत दुःख हुआ। मैंने सारी शक्ति लगाकर अपने शरीर में घुसने का प्रयास किया, पीछे क्या हुआ ? कैसे हुआ ? याद नहीं आता।

'आफ्टर डेथ' में प्रकाशित जूलिया का संस्मरण और भी मार्मिक है। यह पुस्तक सन् १८६७ में प्रकाशित हुई और अब तक उसके लगभग बीस संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। जर्मन, स्विस, फ्रेंच, डेनिस, रशियन तथा इटैलियन भाषा में उसके अनुवाद भी छप चुके हैं। जूलिया एक बहुत रंगीन स्वभाव की लड़की थी, सुंदर होने के कारण उसके अनेक मित्र थे। अपने मित्रों से वह प्रायः कहा करती थी कि यदि मेरी मृत्यु हुई तो भी मिलती अवश्य रहूँगी। संयोगवश १२ दिसंबर, १८६१ में उसकी मृत्यु हो गई। मृत्यु के बाद उसके कई मित्रों ने तो उसके प्रेत को मँडराते हुए देखा ही, कुछ अजनबी आत्माओं को उसके संदेश भी मिले, जिनमें उन लोगों ने केवल वह संदेश प्राप्त किए, जिन्हें जूलिया के अत्यधिक निकट संबंधी ही जानते थे। ऐसे लोगों में कुछ वह भी थे, जिन्होंने उसे कभी देखा नहीं था, पर जब सैकड़ों फोटो उनके सम्मुख रखे गए तो उन्होंने जूलिया का फोटोग्राफ पहचान कर बता दिया। उन

लोगों ने बताया—जूलिया की आत्मा अपने मित्रों के लिए भटकती रहती है। वह उन्हें देखती है, पर स्वयं न देखे जाने या स्पर्शजन्य अनुभूति का आनंद न प्राप्त कर सकने के कारण वह आतंकित और पीड़ित रहती है।

डॉ० रॉबर्ट कूकल ने स्वीकार किया है कि "मृत्यु के बाद मनुष्य अपने सूक्ष्म अणुओं के शरीर से बना रहता है, उसके मन की चंचलता, इच्छाएँ और वासनाएँ बनी रहती हैं; यदि वे अतृप्त रहें या जहाँ आसक्ति होती है जीव वहीं मँडराता रहता है।"

इन उद्धरणों में अभिव्यक्त सत्य पढ़-समझ कर देवर्षि नारद की वह कथा निरर्थक नहीं लगती, जिसमें मनुष्य जैसे विचारशील प्राणी को नितांत पार्थिव होने का भ्रम हो जाता है। अपने यहाँ किसी की मृत्यु के समय दुःख न करने, धार्मिक वातावरण बनाए रखने के पीछे ऐसा ही अकाट्य दर्शन सन्निहित है कि यदि मृत्यु के समय जीव अशांत-आसक्त रहा हो तो देह त्याग के बाद भी यह अशांति न बनी रहे, अपितु उसे परमार्थ-बोध हो, जिससे यह जीवात्मा की विकास यात्रा पर चल पड़े।

किंतु भ्रम में पड़ी मानवीय बुद्धि को क्या कहा जाए ? जो इतना भी नहीं सोच पाता कि मृत्यु के समय विचारणाएँ, वासनाएँ, इच्छाएँ, स्वभाव सब वही तो रहेंगे, जैसा जीवन भर का अभ्यास होगा। जिसने जीवन भर परमात्मा की याद न की, अपना लक्ष्य न पहचाना, शारीरिक सुखों और इंद्रियजन्य अनुराग को निरर्थक नहीं समझा, उन्हीं में आसक्त रहा, उसकी अंतिम समय भावनाएँ एकाएक कैसे बदल पाएँगी ?

मृत्यु-जीवन का यथार्थ है, उसे कोई टाल नहीं सकता, फिर उसकी उपेक्षा क्या हितकर हो सकती है ? समझदार वह है जो एक महान् यात्रा की तैयारी के इस श्रीगणेश पर्व को अच्छी तरह जान लेता है और परिपूर्ण तैयारियाँ करके चलता है, जिससे महान् यात्रा के आनंद मिल सकें। मानवेत्तर योनियों में भटकना पड़े तो

महर्षि नारद के जीव की कथा अपनी ही समझनी चाहिए, किसी और की नहीं।

जीवन भर के संग्रहीत विचार और संस्कार मरने के समय उभरते हैं, उनमें से जो अधिक तीव्र होते हैं, उन्हें स्मृति-पटल पर प्राथमिकता मिलती है, अन्य स्मृतियाँ गौण हो जाती हैं। जीवन भर जो सोचा, जो चाहा और जो किया है—प्रायः उन्हीं का सम्मिलित रूप चेतना आकाश में घटा बनकर छाया होता है और मरणासन्न व्यक्ति उन्हीं भले-बुरे संस्कारों का छाया-चित्र देखता है। उन घड़ियों में सचेतन तन क्षीण हो जाता है और अचेतन का प्राबल्य रहता है। अचेतन के लिए भावना-प्रवाह को दृश्य चित्र जैसा बनाकर प्रस्तुत कर देना सरल है।

भारत के गृहमंत्री पंडित गोविंद बल्लभ पंत की मृत्यु से पंद्रह दिन पूर्व की एक घटना है। अपने सेक्रेटरी को वे अंग्रेजी में बोलते हुए कुछ नोट लिखा रहे थे। वे कुछ रुके और हिंदी में बोलने लगे। सेक्रेटरी अचकचाया कि प्रवाह कैसे बदला ? बात वह भी पूरी न हुई, फिर वे अपनी मातृभाषा पहाड़ी में बोलने लगे। इसके बाद वे एकदम मौन हो गए।

घटना मामूली-सी है, पर उससे इस तथ्य का रहस्योद्घाटन होता है कि मृत्यु से पूर्व आत्मा पर चढ़े बाह्य आवरण उतरते जाते हैं और वह सुस्थिर संस्कारों की भूमिका में जाग्रत् होता जाता है। अंग्रेजी बाहरी भाषा थी—हिंदी भी उन्होंने स्कूल जाने पर सीखी। जन्म से तो पंतजी को पहाड़ी भाषा में ही बोलना, सीखना पड़ा था। घर-परिवार के लोगों के साथ सहज स्वाभाविक स्थिति में वे पहाड़ी में ही बोलते थे। यह उनका अधिक गहरा स्वाभाविक संस्कार था। मरने से पूर्व बाहरी आवरण उसी क्रम से उतरते हैं जिस क्रम से कि उन्हें पहना या प्रयोग किया जाता है। कपड़े उतारते समय हम पहले कोट उतारते हैं, उसके बाद कुर्ता, सबसे अंत में बनियान। इसी प्रकार पहले बनावटी व्यक्तित्व दूर होता है, फिर स्वभाव में घुसी आदतों की प्रभाव-छाया दूर होती है और अंततः जीवात्मा की

वे मूलभूत आस्थाएँ, आकांक्षाएँ ही शेष रहती हैं, जिनमें व्यक्तित्व घुल गया था।

मृत्यु से सब डरते हैं, पर इसलिए नहीं कि वह सचमुच ही डरावनी है। हमें सिर्फ अविज्ञात से डर लगता है, अपरिचित के संबंध में अनेकों आशंकाएँ रहती हैं। अनिश्चय ही—अविश्वस्त स्थिति ही डरावनी होती है। रात्रि के अंधकार में डर लगता है, पर किसका ? चोर का नहीं, इस सुरक्षित स्थान तक उसकी कोई पहुँच नहीं। सर्प का—नहीं, इस ऊँची अट्टालिका के संगमरमर से बने फर्श तक आ सकने का उसका कोई रास्ता नहीं। भूत का नहीं, वह तो भ्रम मात्र है, उसके अस्तित्व पर कोई भरोसा नहीं। फिर वही प्रश्न—अँधेरा क्यों डरा रहा है ? सुनसान से सिहरन क्यों हो रही है ? निश्चय ही यह अनिश्चय की स्थिति है, जो अपरिचित से डरने के लिए बाध्य करती है। अपरिचित अर्थात् अज्ञात। सचमुच अज्ञान सबसे अधिक डरावना है। मौत अज्ञान की छाया मात्र है।

एक गड़रिया राजकीय सम्मान के लिए सिपाहियों द्वारा दरबार में उपस्थित किया गया। वह बेतरह काँप रहा था। भय था कि न जाने उसका क्या होगा, पर जब उसे सम्मानित किया गया और उपहार से लादा गया तब वह सोचने लगा मैं व्यर्थ ही थर-थर काँपता रहा और अपना रक्त सुखाता रहा।

डरावनी मृत्यु आखिर है क्या ? तनिक जानने की कोशिश करें कि वह तनिक-सी विश्रांति भर है। अनवरत् यात्रा करते-करते जब थककर चेतना चूर-चूर हो जाती है, तब वह विश्राम चाहती है। नियति उसकी अभिलाषा पूर्ण करने की व्यवस्था बनाती है। थकान को नवीन स्फूर्ति में बदलने वाले कुछ विश्राम के क्षण वस्तुतः बड़े मधुर और सुखद होते हैं। क्या उन्हें दुःखद दुर्भाग्य माना जाए ?

सूर्य हर दिन अस्त होता है, पर वह किसी भी दिन मरता नहीं। अस्त होते समय विदाई की 'अलविदा' मन भारी करती है,

पर यह मानकर संतोष कर लिया जाता है कि कुछ ही समय बाद उल्लास भरे प्रभात का अभिनंदन प्रस्तुत होगा।

पके फल को प्रकृति उस पेड़ से उतार लेती है, इसलिए कि उसका परिपुष्ट बीज अन्यत्र उगे और नए वृक्ष के रूप में स्वतंत्र भूमिका संपादन करे। वृक्ष से अलग होते समय वियोग की, दुलहिन के पतिगृह में प्रवेश करने की तैयारी नहीं है ! क्या बिछुड़न की व्यथा में मिलन की सुखद संवेदना छिपी नहीं होती ? इन विदाई के क्षणों को दुर्भाग्य कहें या सौभाग्य ? मृत्यु को अभिशाप कहें या वरदान ? इस निर्णय पर पहुँचने के लिए गहरे चिंतन की आवश्यकता पड़ेगी।

मरण के कंधों पर बैठकर हम पड़ौस की हाट देखने भर जाते हैं और शाम तक घूम-फिरकर फिर घर आ जाते हैं। मृत्यु के बाद भी हमें इसी नीले आसमान की चादर के नीचे रहना है। अपनी परिचित धूप और चाँदनी से कभी वियोग नहीं हो सकता। जो हवा चिरकाल से गति देती रही है, उसका सान्निध्य पीछे भी मिलता रहेगा। दृश्य भोजन उदरस्थ होकर अदृश्य ऊर्जा बन जाता है, इसमें घाटा क्या रहा ? संबंधियों की सद्भावना और अपनी शुभेच्छा का आदान-प्रदान जब बना ही रहने वाला है तो संबंध टूटा कहाँ ? इस परिवर्तन भरे विश्व में जीवन का स्वरूप भी तो बदलना चाहिए। ज्वार-भाटे की तरह जीवन और मरण के विशाल समुद्र में हम सब प्राणी क्रीड़ा कल्लोल कर रहे हैं। इस हास्य को रुदन क्यों मानें ?

श्मशान को देखकर कुड़कुड़ाओ मत। वह नव जीवन का उद्यान है। उसमें सोई आत्माएँ मधुर सपने सँजो रही हैं, ताकि विगत की अपेक्षा आगत को अधिक समुन्नत बना सकें। लोगों, डरो मत। यहाँ मरता कोई नहीं, सिर्फ बदलते भर हैं और परिवर्तन सदा से रुचिर माना जाता रहा है, रुचिर के आगमन पर रुदन क्यों ?

एक नहीं हजार तर्क तथा युक्तियों से यह बात सिद्ध होती है कि मृत्यु का यदि वरण ठीक स्थिति में किया जाए तो जीवन से कहीं अधिक सुखकर तथा विश्रामदायिका ही पाई जाती है। महात्मा गाँधी के इस कथन में कितना यथार्थ सत्य छिपा हुआ है। इसको देख-समझकर भी क्या मृत्यु से घबराने, उससे घृणा करने अथवा उसे अवरणीय मानने का कोई कारण हो सकता है। वे लिखते हैं—

"मुझे तो बहुत बार ऐसा लगता है कि मृत्यु को जीवन की अपेक्षा अधिक सुंदर होना चाहिए। जन्म से पूर्व माँ के गर्भ में जो यातना भोगनी पड़ती है उसे छोड़ देता हूँ, पर जन्म लेने के बाद तो सारे जीवन भर यातनाएँ ही भुगतनी पड़ती हैं। इसका तो हमें प्रत्यक्ष अनुभव है। जीवन की पराधीनता हर मनुष्य के लिए एक-सी है। जीवन यदि स्वच्छ रहा तो मृत्यु के बाद पराधीनता जैसी कोई बात न होनी चाहिए। बालक जन्म लेता है तो उसमें किसी तरह का ज्ञान नहीं होता। ज्ञान के लिए कितना परिश्रम करना पड़ता है, फिर भी आत्मज्ञान नहीं हो पाता, पर मृत्यु के बाद तो ब्राह्मी स्थिति का बोध सहज ही हो जाता है। यह दूसरी बात है कि विकार-युक्त होने के कारण उसका लाभ न उठा सकें, किंतु जिनका जीवन शुद्ध और पवित्र होता है, उन्हें तो उस समय बंधन-मुक्त ही समझना चाहिए। सदाचार का अभ्यास इसीलिए तो जीवन में आवश्यक बताया जाता है ताकि मृत्यु होते ही मनुष्य शाश्वत शांति की स्थिति प्राप्त कर लें।"

वास्तविक बात तो यह है कि जिस मनुष्य ने अपने अपकर्मों द्वारा जीवन को काला बना लिया है, पुण्य-प्रकाश से कोई वास्ता नहीं रखा, उसका मृत्यु से डरना तो क्या, जीवन से डर लगा करता है। सदाचार तथा पुण्य-परमार्थ से आलोकित जिंदगी में तो आनंद है ही, मृत्यु के पश्चात् तो अक्षय आनंद के कोष खुल जाते हैं। मृत्यु का भय छोड़िए और अपने पुण्य-परमार्थ द्वारा जीवन एवं

मृत्यु दोनों को एक वीर योद्धा की तरह विजय कर अक्षय पद प्राप्त कर लीजिए।

योगवाशिष्ठ में भी कहा है—

"अभ्यस्य धारणानिष्ठो देहं त्यक्त्वा यथासुखम्।
प्रयाति धारणाभ्यासी युक्तियुक्तस्तथैव च।।"
मूर्खः स्वमृतिकालेऽसौ दुःखमेत्यवशाश्यः।

(३।५४।३६, ३७)

अर्थात् धारणा का अभ्यास करने वाला ज्ञानयुक्त पुरुष शरीर को सुखपूर्वक त्याग देता है, किंतु वे मूर्ख, अज्ञानी जिनका मन वश में नहीं है, मरते समय अत्यधिक दुःखदग्ध होते हैं।

'दीनतां परमामेति परिलूनमिवाम्बुजम्।'

(३।५४।३८)

अर्थात् अज्ञानी व्यक्ति मृत्यु के समय टूटे हुए कमल की तरह दीन-दयनीय हो जाता है।

मरते समय शारीरिक पीड़ा प्रायः नहीं के बराबर होती है। बीमारी में जितना कष्ट सहना पड़ता है, मरते समय उतना भी नहीं होता। इसलिए मरने से इस आधार पर डरने की जरूरत नहीं है कि उस समय अधिक कष्ट होगा।

दाँत में कीड़ा लगने या उखड़ने के कई दिनों पश्चात् बहुत दर्द होता रहता है। पर जब कुशल डॉक्टर उसे निकालता है तो सुई लगाकर उसे सुन्न कर देता है और यह पता भी नहीं चलता कि कब उखड़ गया ? अस्पताल में किसी चोट या व्रण का ऑपरेशन कराने के लिए भर्ती होना पड़ता है। चोट या घाव में बहुत दर्द होता रहता है, पर जब डॉक्टर ऑपरेशन करता है तो बेहोशी की दवा सुँघा देता या सुई लगाकर सुन्न कर देता है। रोगी के साथ डॉक्टर की सद्भावना रहती है, सो वह बिना कष्ट पहुँचाए ही अपना प्रयोजन पूरा कर देता है।

मृत्यु का समय आने से पूर्व कुछ दिन बीमार रहना पड़ता है। बीमारी में स्नायु मंडल और नाड़ी मंडल दुर्बल हो जाता है और अनुभूति की क्षमता शिथिल पड़ जाती है। जैसे-जैसे मरने का समय निकट आता जाता है वैसे-वैसे यह शिथिलता और बढ़ती जाती है। मस्तिष्क अपना काम समाप्त करता जाता है। प्रायः मरने से पूर्व हर व्यक्ति अचेत हो जाता है। उसकी चेतना लुप्त हो जाती है। कुटुंबियों तक को पहचानने की शक्ति नहीं रहती। जीभ बोलना बंद कर देती है और कान, आँख आदि खुले रहने पर भी अपना काम नहीं करते। अनुभव करने की शक्ति धीरे-धीरे अधिकाधिक शिथिल होती चली जाती है और मरने की घड़ी आने से पूर्व ही वह अवचेतन अवस्था इतनी घनी हो जाती है कि प्राण त्यागने के समय प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट अनुभव नहीं होता।

मृत्यु के समय अधिकतर लोग बहुत व्यथित और उद्विग्न पाए जाते हैं। इसका कारण शारीरिक नहीं, मानसिक है। एक तो मनुष्य मोह-ममता के बंधन में बेतरह जकड़ जाता है और उन्हें तोड़ते हुए कष्ट होता है। ढीली हथकड़ी-बेड़ी आसानी से कट जाती है, पर यदि वे शरीर में बहुत कसकर बँधी हों तो काटने में कष्ट होगा। मेरा-पैसा, मेरा-घर, मेरा-कुटुंब, यह 'मेरा' जितना गहरा और कड़ा होगा उसका टूटना मानसिक दृष्टि से उतना ही भारी पड़ेगा। यदि पहले से ही मनुष्य यह सोचता रहे कि धन-संपदा समाज या परमेश्वर की है, मैं उसको कार्यों में प्रयुक्त करने वाला कर्मचारी भर हूँ। स्वामित्व मेरा किसी पर नहीं, तो उसे वस्तुओं से मोह न बढ़ेगा और वे छूटते समय कष्ट न देंगी। इसी प्रकार सब जीवों को ईश्वर का अंश और वे पुत्र समझकर स्वतंत्र इकाई माना जाए। उनके साथ रास्ता चलते पथिक जैसा संयोग माना जाए। परिवार रूपी उद्यान का अपने को माली भर समझा जाए तो फिर कुटुंबियों से ममता न बढ़ेगी। स्नेह-सद्भाव के निर्वाह और कर्तव्य-पालन भर में संतोष और आनंद होता रहेगा। उनके वियोग

में वैसी पीड़ा न होगी जैसी आमतौर से अज्ञानग्रस्त लोगों को होती है।

मरने के समय दूसरा कष्टदायक कारण है—जीवन को निरर्थक एवं अनर्थ जैसे कामों में बर्बाद कर देना। पाप की गठरी सिर पर लादकर ले चलना और भविष्य में कुकर्मों के फलस्वरूप दुःखद परिस्थितियों में पड़ने की संभावना का आँखों के सामने मूर्तिमान् होना। उस समय पश्चात्ताप की आग बेतरह जलाती है और कर्मफल के दंड का भय लगता है। यह कष्ट वास्तविक है। पर होता उन्हीं को है जिन्होंने सुर दुर्लभ मानव शरीर के बहुमूल्य क्षण निरर्थक गँवाए। जीवनोद्देश्य को नहीं समझा। धर्म और कर्तव्य से विमुख रहे और आत्म-कल्याण तथा लोक-कल्याण के लिए भी कुछ करना है इस बात को भूले रहे। मृत्यु की अनिवार्यता हमें ध्यान में रखनी चाहिए। उस समय शरीरगत कष्ट से तो डरने की आवश्यकता नहीं है। पर मानसिक पश्चात्ताप और मोह-ममता के कारण व्यथित न होना पड़े इसलिए अपना दृष्टिकोण और कर्तृत्व ऐसा बनाना चाहिए, जिससे मृत्यु को शांति, धैर्य और साहसपूर्वक स्वीकार किया जा सके।

स्वामी विवेकानंद ने मृत्यु के संबंध में चर्चा करते हुए एक बार कहा था—जब मैं मृत्यु के संबंध में सोचता हूँ तो मेरी सारी कमजोरियाँ विदा हो जाती हैं। उस कल्पना में न मुझे भय लगता है और न शंका-संदेह भरी बेचैनी अनुभव होती है, तब मेरे मन में उस महायात्रा की तैयारी के लिए योजनाएँ भर बनती रहती हैं। मरने के बाद एक अवर्णनीय प्रकाश पुंज का साक्षात्कार होगा, इस कल्पना से मेरी अंतरात्मा पुलकन और सिहरन से गद्‌गद हो जाती है।

मरने से डरने का कारण केवल मनुष्य की वह भीरुता एवं भयभीत मनःस्थिति है, जो अपरिचित स्थिति में जाने और एकाकी रहने की आशंका से उभरती है। संबंधित व्यक्तियों अथवा वस्तुओं से संपर्क छूट-टूट जायेगा यह डर भी मनुष्य को मौत से बहुत

डराता है; पर जिन्होंने मरकर देखा है उनका कथन है कि मौत में डरावनेपन की कोई बात नहीं है।

मरने से पूर्व कैसा अनुभव होता है, यह मनुष्य की अंतःस्थिति पर निर्भर है। वह आजीवन जैसा सोचता रहा है, वैसी अनुभूतियाँ जो अंतिम क्षण में प्रस्तुत होती हैं, उसी का सार तत्त्व कही जा सकती है। किन्हीं को मृदुल संगीत सुनाई पड़ता है, कुछ को नशा चढ़ने जैसी स्थिति अनुभव होती है, किंतु कुछ को दम घुटने और डूबने जैसी अकुलाहट भी होती है। जिन्होंने जीवन दर्शन को समझा है उन्हें मरण सुखद ही लगता है। प्राणिशास्त्री विलियम हंटर ने मरने से पूर्व मंद स्वर में कहा था—यदि मुझमें लिखने की ताकत होती तो विस्तार से लिखता कि मृत्यु कितनी सरल और सुखद है !

डिट्रोयट (अमेरिका) के अखबार में 'उस पार' शीर्षक से एक लेखमाला कुछ समय पूर्व छपी थी, उसमें उन लोगों के अनुभव संस्मरणों का संकलन था, जो मरने के बाद भी जी उठे थे। इन संस्मरणों में एक अनुभव मियामी निवासी लिनमेलविन का है, उन्होंने बताया कि मृत्यु से पूर्व उन्हें तीव्र ज्वर के कारण मस्तिष्क में भारी जलन हो रही थी कि अचानक सब कुछ शांत हो गया और वे शांति, स्वतंत्रता और शीतलता अनुभव करती हुई हवा में तैरने लगीं। उन्हीं के शब्दों में अपने चारों ओर मुझे रंगीन और सुहावना लगा। इस आश्चर्य भरी स्थिति के कारण पहले तो कुछ समझ न पाई, पीछे लगा कि मैं मर गई हूँ और आत्मा के रूप में स्वच्छंद विचरण कर रही हूँ। किंतु यह स्थिति अधिक न रही। किसी ने मुझे पुनः शरीर में धकेल दिया और मैं जीवित हो उठी। देखा तो पाया कि मेरे मृत शरीर को दफनाने के लिए परिवार के लोग आवश्यक तैयारी करने में लगे हुए थे। मरकर फिर जी पड़ने पर उन्होंने भी प्रसन्नता अनुभव की, खासतौर से मेरी छोटी लड़की ने।

ट्रिटीज ऑन सस्पेंडेड ऐंटीमेशन' नामक ग्रंथ के लेखक बोस्टन निवासी डॉ० मूर रसेल फ्लेचर ने लगातार २५ वर्षों तक इस तथ्य का अन्वेषण किया कि मरने के उपरांत मनुष्य को किस प्रकार की अनुभूति होती है। मैसाचुसेट्स मेडिकल सोसाइटी के वे आजीवन अग्रणी नेता रहे। इस संदर्भ में उन्हें ऐसे लोगों से भी वास्ता पड़ा, जो कुछ समय तक मृत रहने के उपरांत पुनः जीवित हो उठे थे। ऐसे लोगों को खोज-खोज कर डॉ० फ्लेचर ने उनके बयान लिए और उन्हें अपनी उपरोक्त पुस्तक में छापा।

इन बयानों में एक गानर्निर नगर निवासी श्रीमती जॉन डी० ब्लेक का है। वे तीन दिन तक मृत स्थिति में पड़ी रही थीं। डॉक्टरों ने उन्हें मृत घोषित कर दिया था, पर कुछ लक्षण ऐसे थे जिसके कारण घर वालों ने उन्हें दफनाया नहीं और पुनर्जीवन की प्रतीक्षा में लाश को सँभाले रहे। तीन दिन बाद वे जी उठीं। पूछने पर उन्होंने बताया कि वे एक ऐसे लोक में गईं, जिसे परियों का देश कह सकते हैं। वहाँ बहुत आत्माएँ थीं, जिनमें उसकी मृत सहेलियाँ भी थीं। वे बिना परों के आसमान में उड़ती थीं और सभी प्रसन्न थीं।

वरमान्य-हद्रिगेट की एक अध्यापिका ने भी कुछ समय मृत रहने के बाद पुनर्जीवन पाया था—उसने बताया—मृत्यु-देश के सभी निवासी प्रसन्न थे। किसी के चेहरे पर विषाद नहीं था। सभी आमोद-प्रमोद में मग्न थे।

बोस्टन से सेंटजान जाने वाला जलयान समुद्र में डूबा तो उसमें से केवल एक लड़की बची। पानी में एक घंटा डूबी रहने के बाद वह लहरों के साथ किनारे पर लगी। मृतक समझी जाने के बाद भी वह बच गई। डॉ० फ्लेचर को उसने बताया—मृत्यु और जीवन के बीच का समय उसने सुनहरे प्रकाश के बीच बड़े आनंद के साथ बिताया।

लंदन के पादरी लेजली वेदरहुड एक मरणासन्न रोगी के निकट प्रार्थना के लिए गए। वे उसका हाथ पकड़े चारपाई के

सिरहाने बैठे थे। रोगी ने मूर्च्छा छोड़कर आँखें खोलीं और कहा—मेरा हाथ पीछे मत खींचो। मुझे आगे जाने दो, वहाँ मुझे स्वागतपूर्वक बुलाया जा रहा है।

यहूदी विद्वान् सोलमन ने लिखा है—इस जीवन के बाद भी एक जीवन है। देह मिट्टी में मिलकर एक दिन समाप्त हो जायेगी। फिर भी जीवन अनंतकाल तक यथावत् बना रहेगा।

दार्शनिक नशाद सृंश ने कहा है—आत्मा की अमरता माने बिना मनुष्य को निराशा और उच्छृंखलता से नहीं बचाया जा सकता। यदि मनुष्य को आदर्शवादी बनना हो, तो अविनाशी जीवन और कर्मफल की अनिवार्यता के सिद्धांत उसके गले उतारने ही पड़ेंगे।

ख्यातिनाम साहित्यकार विक्टर ह्यूगो ने लिखा है—कब्र में अंधकार और श्मशान की नीरवता की बात ने मुझे कभी क्षुब्ध नहीं किया, क्योंकि मैं सदा विश्वास करता रहा—शरीर को तो नष्ट होना ही है, पर आत्मा को कोई भी घेरा कैद नहीं कर सकता। उसे उन्मुक्त विचरण करने का अवसर सदा ही मिलता रहेगा।

वस्तुतः मृत्यु न तो कोई अचंभे की वस्तु है और न डरने की। वह जीवन क्रम में अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई एक सरल और स्वाभाविक प्रक्रिया है, जिसमें पुरातन के नवीनीकरण का सुखद परिवर्तन जुड़ा हुआ है। यदि जीवन सरल रहे तो मृत्यु के जटिल और भयंकर लगने का फिर कोई कारण न रहेगा।

यदि मनुष्य आरंभ से ही मृत्यु को जीवन का अंतिम अतिथि मानकर चले, उसकी अनिवार्यता को समझे और अपनी गतिविधियाँ इस स्तर की बनाए रखे, जिससे मृत्यु के समय जीवन व्यर्थ जाने का पश्चात्ताप न हो, तो मृत्यु हर किसी के लिए सरल और सुखद हो सकती है। थकान मिटाने के लिए निद्रा की गोद में जाना जब अखरता नहीं तो कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि कुछ अधिक लंबी निद्रा प्रदान करने वाली मृत्यु से कोई डरे या घबराए।

जॉर्ज वाशिंगटन मरने लगे तो उन्होंने कहा—मौत आ गई, चलो अच्छा हुआ, विश्राम मिला। हेनरी थोरो ने शांत और गंभीर मुद्रा में मृत्यु का स्वागत करते हुए कहा—मुझे संसार छोड़ने में कोई पश्चात्ताप नहीं है। कोहन्स ने और भी अधिक प्रसन्नता व्यक्त की तथा कहा—लगता है मेरे बदन पर फूल ही फूल छा गए। हेनरी ने अपनी मृत्यु के समय अलंकारिक भाषा में कहा—बत्तियाँ जला दो, मैं अंधकार से नहीं जाऊँगा। विलियम ने अपनी अभिव्यक्ति करते हुए कहा—मरना कितना सुखद है !

लोक प्रसिद्ध दार्शनिक मेचीन काफ ने इस तथ्य का प्रतिपादन किया है कि वृद्धावस्था के साथ-साथ एक आंतरिक थकान आती है और सक्रियता से अनिच्छा उत्पन्न होने लगती है। जिस तरह थका हुआ मनुष्य नींद चाहता है, उसी तरह थकी हुई अंतःचेतना मृत्यु रूपी विश्राम भरी नींद की आकांक्षा करती है। मोह और लोभवश मन मृत्यु को नापसंद करता है, पर अंतःचेतना तो स्वतंत्र है। मन का उस पर बहुत प्रभाव नहीं पड़ता। वह अपनी सरल स्वाभाविक आवश्यकता पूरी करने के लिए मृत्यु की ओर खिसकती जाती है और यह सूक्ष्म संकल्प ही समयानुसार मौत के रूप में अपनी अभीष्ट उपलब्धि प्राप्त कर लेता है।

वाल्टर स्कॉट ने कहा है—मृत्यु निबिड़ अंधकार भरी निशा में आखिरी नींद नहीं, वरन् ब्राह्ममुहूर्त का प्रथम जागरण है, जिसके बाद हम उस ओर बढ़ सकते हैं, जिस संबंध में कि अभी सोचना ही संभव है। कनफ्यूशियस ने लिखा है—हम जिस जिंदगी को जी रहे हैं, उस तक का मर्म नहीं जान पाए, तो उस मृत्यु का जो अभी कई कोस आगे है—रहस्य कैसे जान पाएँगे ? विलियम हैटर ने अपने शोध-कार्यों को पूरा कर लेने पर मृत्यु समय की अंतिम साँस लेते हुए कहा—यदि इस समय भी मुझमें कलम उठाकर लिखने की शक्ति होती तो लिखता-मरना कितना सरल और शांतिपूर्ण है ?

कवीन्द्र-रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी एक कविता में कहा है—'जन्म जीवन का प्रारंभ नहीं है और न मृत्यु अंत। देह का

आदि और अंत मात्र, विस्तृत जीवन-क्रम का एक छोटा-सा अध्ययन मात्र है।'

शेक्सपियर का एक नायक कहता है—यह जीवन उस बेतुकी कहानी की तरह है, जो किसी सिड़ी (पागल) द्वारा कही गई हो। जीवन वह नक्कारखाना है, जिसमें केवल शोर, रुदन और आँधी-तूफान के उतार-चढ़ाव तो भरे पड़े हैं, पर न उस रुदन का कुछ अर्थ है न हास्य का और न स्वयं इस बेतुके जीवन का।

जो हो, हमें यह मानकर चलना होगा कि जीवन के साथ मृत्यु जुड़ी हुई है। इसलिए दोनों को घनिष्ठ सहचर मानकर चलें। जब तक जीवन है, इस तरह जिएँ जिसे शानदार और सराहनीय कहा जा सके। जब मृत्यु आए तब शांति और मुस्कराहट के साथ उसका ऐसा स्वागत करें जैसा विचारशील, धैर्यवान और बहादुर लोग किया करते हैं।

आत्मा की पुकार है, **"मृत्योर्माऽमृतंगमय"** 'हे परमेश्वर, मुझे मृत्यु से अमरता की ओर ले चल।' मरण कितना अवांछनीय और जीवन कितना अभीष्ट है ? इसका आभास इस पुकार में मिलता है। अंतरात्मा की प्रबल कामना है, जिजीविषा। वह जीना चाहती है। यह सभी जानते हैं कि शरीरगत मृत्यु अपराजित है। वह प्रकृति पदार्थों को परिवर्तित करने के लिए अनिवार्य रूप से आती है, किंतु निश्चय ही उसका भय जीता जा सकता है। मौत अपने आप में डरावनी नहीं है। परिवर्तन में विनोद है और उत्साह भी। स्थिरता में नीरसता रहती है। गति और सरलता बनाए रहने के लिए परिवर्तन आवश्यक है। यह स्वाभाविक सरल प्रक्रिया ही मरण कहलाती है, जिसे काय-कलेवर का परिवर्तन ही कह सकते हैं। इसमें न तो कुछ अप्रिय है, न अनुचित और न कष्टकर। कष्टकारक तो मृत्यु का भय है। यदि उससे निवृत्ति मिल सके तो समझना चाहिए कि मृत्यु से छुटकारा पाने और अमरता का लाभ लेने जैसा आनंद मिल गया।

मृत्यु कोई विभीषिका नहीं, एक सुनिश्चित संभावना है, उसे एक समस्या का रूप दिया जा सकता है। उसका हल इतना ही खोजा जा सकता है कि सुखद, संतोषजनक और सराहनीय मृत्यु का वरण किस प्रकार संभव हो ? इसका उत्तर एक ही है कि जीवन का सदुपयोग इस प्रकार किया जाए कि जन्मोत्सव की तरह ही मरणोत्सव भी देह छोड़ने वाले प्राणी को सरल प्रतीत हो सके। सुखद मृत्यु जीवन-देवता की आराधना का वरदान है। जो इस साधना को कर सके, उसके लिए मरण का दिन पश्चात्ताप का नहीं वरन् अधिक सुखद परिस्थितियों के लिए विनोद यात्रा पर निकलने की तरह उत्साहवर्धक ही बनकर आता है।

भगवान् बुद्ध जब मरने लगे तो रोते हुए अपने प्रिय शिष्य आनंद को दुलारते हुए उन्होंने कहा, 'आनंद, रोओ मत, यह रोने का अवसर नहीं है। स्वयं अपने लिए दीपक बनो। निर्वाण तो नितांत स्वाभाविक है। उसके लिए तो स्वयं को पहले से ही तैयार करना है।' विल्सन ने मृत्यु की बेला में मुस्कराते हुए किसी अज्ञात से कहा, 'मैं तो बिल्कुल तैयार हूँ।' और उन्होंने आँखें मूँद लीं। वाल्टेयर ने उपस्थित लोगों से मरते समय कहा, 'आप लोग गड़बड़ न करें, शांति से मरने दें।' गेटे ने मरण की उपस्थिति को प्रकाश के रूप में देखा और वे बड़े उत्साह से चिल्लाए प्रकाश-प्रकाश, अनंत प्रकाश। इतनी अनुभूति व्यक्त करके उनकी वाणी मौन हो गई। स्वामी दयानंद ने संतोषभरी लंबी साँस खींची और कहा, 'हे दयामय ! तेरी इच्छा पूर्ण हो।' गाँधीजी के मुख से अंतिम शब्द निकला, 'हे राम' और वे राम में ही समा गए।

जीवन का सदुपयोग ही मौत को सरल बनाने की पूर्व तैयारी है। जो उसे कर सके उनके लिए जीवन और मरण दोनों अभिन्न मित्रों की तरह सुखद और सहयोगी प्रतीत होते हैं।

❐ ❐

मृतात्मा को क्षुब्ध नहीं , तृप्त करें

मृत्यु के समय परिजनों का भी यह कर्तव्य होता है कि वे ऐसा वातावरण बनाएँ, जिससे कि मरणशील व्यक्ति आनंद और प्रसन्नता के साथ अपनी अगली यात्रा पर जा सके। उस समय रामचरितमानस, गीता, जपुजी, उपनिषद् आदि का पाठ करने, भजन, कीर्तन करने की परंपरा उचित एवं आवश्यक है। चारों ओर शांति तथा वैराग्य का वातावरण रहने पर मरणशील व्यक्ति के भी वैसे ही संस्कार जाग्रत्-सक्रिय हो उठते हैं और वह शांति के साथ शरीर छोड़कर गंतव्य की ओर प्रस्थान करता है।

न केवल मृत्यु के पूर्व, अपितु मृत्यु के तत्काल बाद भी शांति तथा वैराग्य का ही वातावरण बनाए रखना चाहिए। उस समय रोना-धोना, चीखना-चिल्लाना, छाती पीटना, आर्तनाद करना—विलाप के साथ आसक्त-उत्प्रेरक घटनाएँ याद करना और इसी प्रकार की अन्य चेष्टाएँ अनुचित हैं। उससे मृत व्यक्ति की आत्मा को क्लेश ही होगा।

यों भी सामान्यतः व्यक्ति के संस्कार, मरणोपरांत खींच-खींचकर उसे घर की ओर ले आते हैं। स्थूल शरीर से मुक्त जीवात्मा का सूक्ष्म शरीर देर तक घर में ही मँडराता रहता है; अतः उस समय रोना-धोना नहीं चाहिए, अन्यथा शरीर-मुक्त जीवात्मा को कष्ट होगा। सिंधी लोगों में तथा कुछ अन्य समाजों में उस समय भजन-कीर्तन की परंपरा है, जो अत्युत्तम है। वे क्षण शोक-विलाप के नहीं, भावभीनी श्रद्धांजलि के होते हैं। प्रभु से प्रार्थना की जानी चाहिए कि दिवंगत की आत्मा शांति के साथ अगली यात्रा पर जाए और उसे नई शक्ति, नई स्फूर्ति तथा आलोकपूर्ण मार्गदर्शन प्राप्त हो। शोक-संताप से तो उसे कष्ट ही होगा। यात्रा के लिए उसे प्रकाशपूर्ण पाथेय चाहिए, शोकांधकार

जीवात्मा की अगली यात्रा में पग-पग पर अवरोध ही उपस्थित करेगा।

ईसाइयों में इस संबंध में एक मार्मिक कहानी प्रचलित है। किसान का बच्चा मर गया। बच्चे से बाप को अत्यधिक मोह था। उसकी मृत्यु ने उसे भीतर तक हिला दिया। उसका मन कराह उठा। वह दिन-रात टीस और पीड़ा से भरा रहता। उसे जीवन निस्सार और निरानंद प्रतीत होने लगा। न काम में मन लगता, न आराम ही कर पाता।

कई दिन बीत गए। तब एक रात किसान ने एक हृदयस्पर्शी स्वप्न देखा। उसने देखा कि स्वर्गलोक में नन्हे-मुन्ने प्यारे-प्यारे फूल जैसे कोमल, सुंदर बच्चों का झुंड उल्लास के साथ कोई उत्सव मना रहा है। उसी समारोह में सब बच्चे अपने-अपने हाथ में जलती हुई मोमबत्तियाँ लेकर पंक्तिबद्ध आगे बढ़ते हैं। मोमबत्तियों का प्रकाश दिव्य और प्रखर तथा अकंप हैं। सब बच्चे उस प्रकाश में तेजी से आगे ही बढ़ते जाते हैं। बस एक बच्चा रह-रहकर ठिठक जाता है। उसकी मोमबत्ती बार-बार बुझ जाती है, साथी सहयात्री बालक उसे फिर जलाते हैं। वह एक-दो कदम बढ़ता है तभी मोमबत्ती फिर बुझ जाती है। इस क्रम की आवृत्ति बार-बार होती है। लड़का रुआँसा कातर हो उठता। बूढ़ा किसान दयाभाव से भरकर उधर बढ़ता है तो चौंक उठता है, यह तो उसी का बच्चा है। वह पूछता है—'बेटे ! तुम्हारी ही मोमबत्ती क्यों बुझ जाती है बार-बार।'

बच्चा उत्तर देता है—"क्या करें पिताजी, जैसे ही मेरे साथी मेरी मोमबत्ती जलाते हैं और मैं चलता हूँ, वैसे ही आपके आँसू मेरी मोमबत्ती पर टपकते हैं और वह बुझ जाती है।"

कहानी मार्मिक तो है ही, यथार्थ भी है। सगे-संबंधियों का शोक-संताप परलोक में जीवात्मा को पीड़ा ही पहुँचाता है। परिजनों का करुण-विलाप जीवात्मा को क्षुब्ध-अशांत करता है। अतः ऐसा करना अनुचित और अहितकर है। इसके स्थान पर शांत चित्त से

भक्तिपूर्ण भाव से, परमपिता परमेश्वर से उस जीवात्मा की सद्गति के लिए प्रार्थना करनी चाहिए।

यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि जिसने जन्म लिया है, उसका मरण सुनिश्चित है। सृष्टि का क्रम ही जन्म-मरण की धुरी पर घूम रहा है। इसलिए आत्मीय जनों की मृत्यु पर शोक की कोई आवश्यकता है नहीं। एक पौराणिक आख्यान है कि अपने पुत्र की मृत्यु से दुःखकातर राजा जब राजकाज ही छोड़ बैठे और ऋषि नारद के बार-बार समझाने-बुझाने पर भी नहीं माने, तब उन्होंने उसी पुत्र के द्वारा राजा को शिक्षा दिलाना उपयुक्त समझा। मुनि की दिव्य प्रेरणा एवं शक्ति प्रयोग से राजकुमार उठ बैठा। उसे देखते ही राजा ने "मेरे लाड़ले" कहकर उसकी ओर हाथ बढ़ाया, इस पर राजकुमार ने उन्हें समझाया—कैसे लाड़ले और कैसे पिता ? राजन् ! भ्रम में मत पड़ो। तुम्हारा पुत्र मर चुका। मेरी वह भूमिका समाप्त हुई। अब मुझे अगले दायित्व निभाने दें। पता नहीं, कितने बार आप बेटे, भाई, मित्र, शत्रु आदि रह चुके हैं और कितने ही बार मैं आपका कभी पिता, कभी बंधु, कभी साथी, कभी प्रतिस्पर्धी-विरोधी रह चुका हूँ। यह जन्म-मरण चक्र अनादि है। आप एक ही भूमिका में आसक्त हो गए हैं। एक क्षणिक लहर को ही आपने समुद्र मान लिया है।.... आदि। राजकुमार के उपदेशों और स्पष्ट कथनों से राजा का मोह समाप्त हुआ।

गर्भोपनिषद् (४) में बताया गया है कि गर्भावस्था में जीव के अंतःकरण में पूर्वजन्मों की स्मृतियाँ जाग्रत् होती हैं और वह कहता है—

"नानायोनिसहस्राणि दृष्ट्वा चैव ततो मया।
आहारा विविधा भुक्ता पीता नानाविधाः स्तनाः।।
जातस्यैव मृतस्यैव जन्म चैव पुनः पुनः।
यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभाशुभम्।।
एकाकी तेन दह्यामि गतास्ते फलभोगिनः।

अर्थात् हजारों बार मेरा जन्म हो चुका है, विविध प्रकार के आहार मैं खा चुका हूँ, हजारों माताओं का दूध पी चुका हूँ, बार-बार पैदा हुआ हूँ और बार-बार मरा हूँ। आत्मीयों के लिए शुभ और अशुभ कर्म किए हैं, पर वे तो आज साथ हैं नहीं। साथ हैं मेरे कर्म ही, उनका ही फल मुझे मिल रहा है।

इस प्रकार वस्तुतः आत्मा की मृत्यु नहीं होती। मृत्यु मात्र शरीर की होती है और वह अटल-अनिवार्य है। उसके लिए दुःख करना व्यर्थ है, क्योंकि उस शरीर की चमड़ी से तो प्यार-संबंध था नहीं। यदि होता तो चमड़ी अभी भी सामने है। फिर न तो वह दुःख का कारण बनती, नहीं उसे जलाने-दफनाने का प्रयास होता। स्नेह-अनुराग तो उस शरीर के माध्यम से अब तक क्रियाशील चैतन्य आत्मा से था। वह आत्मा नष्ट हुई नहीं है। इसलिए शोक-क्लेश का न तो कोई कारण है न ही औचित्य। शरीर को नष्ट होने से बचाया नहीं जा सकता और आत्मा की मृत्यु कभी हो नहीं सकती। तब फिर कष्ट और रुदन की क्या बात है ?

आत्मा शरीर के साथ उत्पन्न होता है और उसी के साथ मर जाता है। यह मान्यता पिछले दिनों पदार्थ विज्ञानियों की रही है। वे प्राणी को एक चलने-फिरने और सोचने-बोलने वाला समर्थ पौधा मानते रहे हैं। पौधे के जन्म और मरण के साथ ही उसके अस्तित्व का उदय और अंत, ज्ञानी और विज्ञानी एक समान मानते हैं।

प्रश्न प्राणियों के विशेषतया मनुष्य के संबंध में उपस्थित होता है, क्योंकि उसके समाधान से हमारा सीधा संबंध है। क्योंकि तब सोचना पड़ेगा कि यदि जीवन शरीर के बाद भी बना रहता है तो शरीर त्याग के बाद उसे किस स्थिति का सामना करना पड़ता है ? स्वर्ग, नरक, परलोक के प्रसंग इसी संदर्भ में सामने आते हैं। यदि पुनर्जन्म होता है तो पिछले जन्म की स्थिति का इस जन्म पर और इस जन्म का अगले जन्म पर क्या प्रभाव पड़ता है ? इतना ही नहीं, इस संबंध में जो निष्कर्ष निकलता हो उससे वर्तमान

जीवन का उपयोग करने के संबंध में नीति निर्धारित करने की बात भी सामने आ खड़ी होती है।

सामान्यतया हम भूतकाल से बहुत कुछ सीखते हैं, याद रखते हैं और भावनापूर्वक उस सबको स्मरण रखते हैं, जो हमने खोया या पाया है। वर्तमान में जो कुछ हम हैं वह भूतकाल में रोपे गए वृक्ष के ही फल-फूल हैं। भविष्य में कुछ बनता है वह आज के क्रिया-कलाप का प्रतिफल ही होगा। इन दिनों में जो कुछ करते हैं उसका लाभ तत्काल तो मिलता नहीं—कुछ समय उपरांत ही उसके परिणाम सामने आते हैं। इस प्रकार हमारी समस्त गतिविधियाँ प्रायः भविष्यनिर्माण में ही नियोजित रहती हैं। फिर यदि जीवन मरने के बाद भी बना रहता है, तो स्वभावतः उसकी भी चिंता करनी पड़ेगी और भविष्य के लिए सुखद अवसर प्राप्त करने की तैयारी को भी महत्त्व देना होगा। यदि जीवन शरीर के साथ ही समाप्त होता है, तो मरणोत्तर जीवन के बारे में चिंता या तैयारी नहीं करनी पड़ेगी, तब वर्तमान शरीर के वर्तमान और भविष्य को ही सब कुछ मानकर तदनुरूप जीवन-यापन की नीति निर्धारित करनी होगी। दोनों परिस्थितियों में दृष्टिकोण अपनाने और कार्यक्रम निर्धारित करने में भारी अंतर होगा। आस्तिकों को मरणोत्तर भविष्य-निर्माण करने के लिए स्वर्ग, मुक्ति, शांति, सद्गति की बात सोचनी पड़ती है और इस जीवन में तप, संयम, दान, परमार्थ जैसे धर्मानुष्ठानों को महत्त्व देना पड़ता है, भले ही प्रत्यक्षतः उसमें आर्थिक हानि एवं शारीरिक असुविधाएँ ही सहन क्यों न करनी पड़ती हों ? इसके विपरीत नास्तिक तात्कालिक आमोद-प्रमोद एवं सुख-साधनों को ही महत्त्व देते हैं। जब देह भस्मीभूत ही ठहरी और पुनरागमन की संभावना नहीं रही तो 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' की नीति अपनाने में कोई अनौचित्य नहीं कहा जा सकता। जीवन का आदि-अंत शरीर तक ही सीमित है या उसके पश्चात् भी उसका अस्तित्व है, यह मात्र दार्शनिक पहेली नहीं है। उसका आज की गतिविधियों से सीधा संबंध है। एक निश्चय के उपरांत एक

दिशा में चलना पड़ता है और दूसरा निश्चय होने पर दूसरी दिशा में चलने की आवश्यकता अनुभव की जायेगी।

क्या मृत्यु की अनुभूति कभी हो सकती है ? इसका उत्तर नकारात्मक ही हो सकता है। मैं मरने वाला हूँ, मर रहा हूँ, जैसे शब्दों का उच्चारण करते हुए भी कहने वाला अपने को जीवित अनुभव करता है। सपने में अपनी मृत्यु का दृश्य देखा जा सकता है। शरीर अचेतन पड़ा हुआ और स्वजन संबंधी रोते-कलपते दिखाई पड़ते हैं। इतने पर भी अपनी सत्ता बनी ही दीखती है। मरण का अनुभव अपने को ही होता रहता है। इससे स्पष्ट है कि अपना मरण स्वीकार करना आत्मा का स्वभाव ही नहीं है।

जिसका जो स्वभाव है वह उसे पसंद होता है और उसकी पूर्ति में प्रसन्न होता है। मछली का जल-जीवन स्वभाव है, मच्छर गंदगी पसंद करते हैं और खटमल रक्त पीते हैं। इसमें उन्हें घृणा नहीं प्रसन्नता होती है। आत्मा यदि मरणधर्मा होती तो उसे मरने से तनिक भी डर न लगता। चूँकि वह मरना नहीं चाहती, मृत्यु संकट आने पर उससे बचने का हर संभव उपाय करती है। मरने से डरना यह बताता है कि मृत्यु अस्वाभाविक है। जीवात्मा उस स्थिति को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं। यों शरीर मरता है, आत्मा की मृत्यु नहीं होती तो भी उसे न केवल अपनी वरन् अपने शरीर और स्वजनों तक की मृत्यु अनुपयुक्त-अप्रिय लगती है। जीवन ही आत्मा का धर्म है। अपना मरण तो होता नहीं है। शरीरों पर पदार्थों के लिए मरण स्वाभाविक होते हुए भी चेतना पर उसकी प्रतिकूल प्रतिक्रिया होती है। यह सब लक्षण इस बात के हैं कि मानवी सत्ता मरणशील नहीं, न उसे मरण से कोई सहानुभूति है।

स्वास्थ्य स्वाभाविक है और रोग अस्वाभाविक। स्वस्थ सदैव बने रहने में भी किसी को कोई आपत्ति नहीं। अस्वस्थता थोड़े दिन की भी असह्य होती है। किसी प्रियजन के रोगी होने से चिंता होती है, उसकी स्थिति तथा वजह पूछने-जानने के लिए आतुरता व्यक्त की जाती है, किंतु स्वस्थ रहने पर कोई उसके लिए चिंता नहीं

करता और न यह पूछता है कि आप स्वस्थ क्यों है ? इससे स्वाभाविक और अस्वाभाविक होने का परिचय मिलता है। मृत्यु और जीवन के संबंध में भी यही बात है। मृत्यु का समाचार पाकर या उसकी संभावना विदित होने पर चिंता संवेदना प्रकट की जाने लगती है, पर जीवित रहने पर ऐसी कोई व्यग्रता कहीं से भी नहीं होती। इससे जीवन की स्वाभाविकता सिद्ध है। अस्वाभाविक तो मरण ही है। जब शरीर तक के मरण में अस्वाभाविकता मानी जाती है, तब आत्मा की चेतन सत्ता का मरण स्वीकार करने की बात तो किसी के गले उतरती ही नहीं।

इस संसार में जितना पदार्थ सृष्टि के आरंभ में था उतना ही अंत तक रहेगा। उसमें न्यूनाधिकता नहीं होती। वस्तुओं के स्वरूप में परिवर्तन होता रहता है। ठोस, तरल और वायभूत इन स्थितियों में वस्तुएँ बदलती रहती हैं। पानी तरल है, ठंडक पड़ने पर बर्फ बन जाता है। गर्मी पड़ने पर भाप बनकर आकाश में उड़ जाता है, फिर बादल या ओस बनकर तरल रूप में दिखाई पड़ता है। यही अदला-बदली वस्तुओं की उत्पत्ति और मृत्यु के रूप में प्रकट-अप्रकट होती रहती है, वस्तुतः कोई वस्तु कभी नष्ट नहीं होती। इस सिद्धांत को रसायनशास्त्र के विद्यार्थी भली प्रकार जानते हैं। भौतिक विज्ञान में इसी सिद्धांत को 'तत्त्व का अनुत्पतित्त्व'—'तत्त्व का अविनाशित्व' 'शक्ति का परिवर्तन'—नाम से प्रतिपादित किया गया है। अध्यात्मशास्त्र में पदार्थ और प्राणी दोनों पर ही इसी तथ्य का समान रूप से कार्यान्वयन प्रतिपादित किया गया है। गीता कहती है—**"नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः।"** अर्थात् जो नहीं था वह पैदा नहीं होता और जो है उसका नाश नहीं हो सकता। इस प्रतिपादन में पदार्थ की तरह आत्मा की अमरता भी सन्निहित है।

किसी से पूछा जाए कि आपका अस्तित्व इस समय है या नहीं, वह यही "है" में ही उत्तर दे सकता है। यदि यह 'मैं' इस समय विद्यमान है, तो वह पहले भी था और आगे भी बना ही

रहेगा। हाँ, नाम, रूप और स्थान का परिवर्तन प्रकृति के स्वाभाविक क्रम के अनुसार अवश्य होता रहता है। यदि स्थानांतरण को मृत्यु समझा जाए तब तो बात दूसरी है, पर यदि विनाश या समाप्ति के रूप में मरण की व्याख्या की जाती हो, तो वह भौतिक शास्त्र और दर्शन शास्त्र दोनों ही दृष्टियों से गलत है। आत्मा का अस्तित्व शरीर की मृत्यु होने के उपरांत भी बना रहता है। इस तथ्य से वे धर्म भी इनकार नहीं करते जो पुनर्जन्म को नहीं मानते। उस परलोक का अस्तित्व तो उन्हें भी मान्य है, जिसमें मरने के बाद भी आत्मा किसी न किसी स्थिति में निवास करती रहती है।

साधारणतया जन्म शब्द का अर्थ पैदा होना और मृत्यु का नष्ट एवं समाप्त हो जाना है। यह दो घटनाएँ समझी जाती हैं। संस्कृत भाषा में 'जन्म' और 'मृत्यु' शब्दों की व्याख्या व्युत्पत्ति में तथ्य को पूरी तरह स्पष्ट किया गया है। उसमें जन्म का अर्थ प्रकट होना और मृत्यु का देखने योग्य न रहना भर है। इन शब्दों में स्थिति के परिवर्तन भर का संकेत है, किसी नवीन उत्पादन या आत्यंतिक विकास का प्रतिपादन नहीं है।

संस्कृत की 'जनी-प्रादुर्भावे' धातु से जन्म शब्द बना है। प्रादुर्भाव का अर्थ है—प्रकटीकरण—ऑरिजिन। प्रकट होने का तात्पर्य है—जो छिपा था, उसका सामने आ जाना; 'जन्म' शब्द का दूसरा पर्यायवाचक है। उत्पत्ति यह शब्द उद्-पद से मिलकर बना है। जिसका अर्थ है—ऊपर आना। इस व्याख्या में भी स्थिति के बदलने भर का संकेत है। जन्म के पर्यायवाचकों में एक और शब्द है—सृष्टि अर्थात् क्रिएशन। यह शब्द—सृज-विसर्ग—धातु से बना है, जिसका तात्पर्य भी लगभग वैसा ही है जैसा कि जन्म एवं उत्पत्ति का। सृष्टि का बाहर आना—प्रत्यक्ष होना कह सकते हैं। हमारी इंद्रियों में सब कुछ देखने की सामर्थ्य नहीं है। वे पंचतत्त्वों से बनी होने के कारण मात्र किन्हीं वस्तुओं की स्थूल स्थिति को ही देख सकती हैं। कितनी ही वस्तुओं का अस्तित्व सूक्ष्मदर्शी यंत्र से, रेडियो टेलिस्कोपों से एवं अन्यान्य साधनों से जाना जा सकता

है। आँखें एवं इंद्रियाँ तो वायु-भूत पदार्थों तक को नहीं देख पातीं, जबकि अन्य इंद्रियाँ उनकी उपस्थिति का अनुभव करती हैं। आग पर मिर्च जला देने से वे हवा में उड़ जाती हैं। तब उस वायु-भूत मिर्च को आँखें नहीं देखतीं, किंतु नाक गंध रूप में उसकी उपस्थिति अनुभव करती है। इसके आगे सूक्ष्मता आने पर वे इंद्रियों की पकड़ से बाहर हो जाती हैं तो भी उनका अप्रकट अस्तित्व बना रहता है। पदार्थ और आत्मा दोनों के संबंध में यह सिद्धांत एक समान लागू होता है। जन्म का अर्थ नवीन उत्पत्ति नहीं, किंतु अप्रकट का प्रकट भर हो जाना है।

'मृत्यु' शब्द का संस्कृत भाषा में जो अर्थ है, उससे भी वस्तुस्थिति पर भली प्रकार प्रकाश पड़ता है। मृत्यु के लिए नाश शब्द का प्रयोग होता है। नाश 'नश-अदर्शने' धातु से बना है, जिसका तात्पर्य है—देखने योग्य न रहना। इसमें अस्तित्व के अभाव की बात नहीं कही गई है, मात्र इतना ही संकेत है कि वह पदार्थ दृष्टि-पथ से ओझल हो गया। ऐसा तो बच्चे 'आँख मिचौनी' खेल में भी करते रहते हैं। बादलों की छाया सूर्य-चंद्र तक को गुप्त-प्रकट होने तक के लिए विवश करती रहती है। धूप-छाँह की स्थिति को सूर्य-चंद्र की उत्पत्ति या समाप्ति तो नहीं कह सकते। ठीक इसी प्रकार आत्मा के शरीर-धारण करने और चोला उतार देने की स्थिति के संबंध में समझा जाना चाहिए। इसमें अस्तित्व तो बना ही रहता है। उसकी अमरता में कोई अंतर नहीं आता।

मौत से न डरने की जरूरत है और न उसके लिए उतावले होने की। शरीर ही बदलते हैं, आत्मा के अस्तित्व पर मौत का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कपड़े बार-बार बदलने पड़ते हैं, पर शरीर वही बना रहता है—शरीर भी कपड़े की तरह बदलते रहते हैं। जीवन ईश्वर के समान ही अनादि और अनंत है। कोई सत्कर्म किया है तो उसका फल अगले दिन, अगले जन्म में मिल सकता है; उसमें अधीरता की आवश्यकता नहीं है। वृद्ध हो गए, मरने के दिन आ गए, अब पढ़कर क्या करेंगे ? अब के आरंभों का अपने को क्या

प्रतिफल मिलेगा, इस तरह नहीं सोचा जाना चाहिए। जीवन अनंत है। भविष्य सुविस्तृत है। रात्रि में विश्राम करना पड़ता है और काम में व्यवधान पड़ता है, यह सोचकर बहुत दिन में पूरी होने वाली योजना बनाने में कोई संकोच नहीं करता। फिर हम ही अनंत जीवन में क्रमिक गति से आत्मोत्कर्ष की, सद्गुणों की, सद्ज्ञान की संपदा एकत्रित करने में कटिबद्ध क्यों न रहें ?

इन मान्यताओं को अपनाए रहकर हम शरीर की मृत्यु निश्चित मानते हुए भी अजर-अमरों जैसा निश्चिंत-प्रसन्न और योजनाबद्ध प्रगतिशील जीवन जी सकते हैं। साथ ही आत्मीयों की मृत्यु को मात्र शरीर-परिवर्तन समझकर उसके लिए विलाप करने से बचे रह सकते हैं। इससे दिवंगत आत्मीय भी क्षुब्ध-दुःखी होने से बचेंगे। हमारा रुदन नहीं, शुभचिंतन ही उन्हें तृप्ति, संतोष और शक्ति देगा।

○ मृत्यु जीवन का अंत नहीं

महान् धर्मात्मा राजा जनश्रुति को जब भोग-विलास से वैराग्य हुआ तो उसने देखा कि अब तो उसका शरीर भी जर्जर हो चुका है। शरीर में तप और साधना की शक्ति भी नहीं रही। जीवन भर अज्ञान में अनेक पाप किए उनका पश्चात्ताप राजा को दलने लगा तो वह महामुनि रैक्य के पास पहुँचे और बोले—"भगवन्, मैं धर्म-चित्त हुआ राजा आज जीव-भाव से आपके समक्ष उपस्थित हुआ हूँ, मुझे बतलाइए मृत्यु के बाद क्या होता है और क्या मेरी असहाय चेतना भी जन्म-मृत्यु के बंधन से मुक्ति पा सकती है ?

महामुनि रैक्य ने बताया—राजन् ! जब मृत्यु का समय आता है तब सब इंद्रियों की वृत्ति वाणी में लय हो जाती है। वाणी की वृत्ति मन में और मन की वृत्ति तब प्राण में परिवर्तित हो जाती है। जाग्रत् अवस्था में पाँच कर्मेंद्रियाँ और पाँच ज्ञानेंद्रियाँ मन की इच्छाओं पर नाचती थीं, पर मृत्यु के समय मन प्राण-चेतना के वश में चला जाता है, तब प्राण ही जीवन भर की स्थिति के अनुरूप नए निर्माण में जुट जाते

हैं, वह निर्माण चाहे अच्छा हो या बुरा उसका निर्णय चेतना के शरीर छोड़ते समय ही हो जाता है। जो लोग ईश्वर उपासना, तप, ज्ञान-संवर्धन और साधना द्वारा अपना मनोबल और आत्म-बल विकसित कर लेते हैं, वह अनेक गुणों और संस्कारों से युक्त सुंदर जीवन पाते हैं और जिनकी इंद्रियों के प्रति लालसा जाग्रत् बनी रहती है, वे उन-उन इच्छाओं की पूर्ति के लिए पुनः कोई शरीर धारण करते हैं। यह पटाक्षेप सनातन काल तक चलते रहते हैं।

उपरोक्त कथन में मृत्यु-विज्ञान पर जहाँ संक्षिप्त शास्त्रीय प्रकाश डाला गया है, वहाँ यह समझाने का प्रयत्न भी है कि एक मृत्यु के बाद मनुष्य का अंत नहीं हो जाता, वरन् उसे अपने कर्मानुसार अन्य जन्म भी धारण करने पड़ते हैं। बार-बार जन्म और बार-बार मृत्यु होती है। जब तक सृष्टि का प्रत्येक जीव पूर्णता नहीं प्राप्त कर लेता यह प्रक्रिया कभी बंद न होगी।

एक बार बालक नचिकेता को भी ऐसी ही प्रबल जिज्ञासा उठी थी, उसने भी यमाचार्य से ऐसा ही प्रश्न किया था—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चान्ये।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः।।

—कठ० उप० ११-२०,

"आचार्यदेव ! मरे हुए मनुष्य के विषय में बड़ा भ्रम है। कुछ लोग कहते हैं, मृत्यु हो जाने पर भी जीव बना रहता है। कुछ कहते हैं, उसका नाश हो जाता है। सो आप मुझे उसका निश्चित निर्णय करके बताइए—सत्य क्या है ?"

यमाचार्य ने नचिकेता को तब योगाभ्यास कराया और उसके द्वारा उसने यह जाना कि जीव किस प्रकार मृत्यु के उपरांत यमलोक, प्रेतलोक, वृक्ष, वनस्पति आदि योनियों, भुवर्लोक आदि में जाता है और वहाँ की परिस्थितियों का वर्तमान जीवन की तरह उपयोग करता है।

❐ ❐

सुदीर्घ विश्राम की अवधि को सार्थक बनाएँ

किसी व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसका पुनर्जन्म कितनी अवधि के उपरांत होता है, यह प्रश्न लोगों को लंबे समय से मथता रहा है। ऐसे प्रश्नकर्ताओं का पुनर्जन्म से आशय प्रायः इसी धरती पर उस आत्मा की नए शरीर में वापसी से होता है, मरणोत्तर लोक की स्थिति से नहीं।

इस संबंध में भिन्न-भिन्न धर्ममतों की भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं। इस्लाम मतानुयायियों की मान्यता है कि मृत्यु के उपरांत जीवात्मा उसी कब्र में कयामत तक गड़ा, विश्राम करता है। कयामत के वक्त देवदूत जिब्राइल नफीरी बजाता है। तब कब्र से उठ-उठकर हर एक जीवात्मा खुदा के सामने हाजिर होती है। पैगंबर मुहम्मद साहब वहीं पर मौजूद रहते हैं। वे बताते हैं कि अमुक ने इस्लाम कबूल किया है, अमुक ने नहीं। इस्लाम कबूल करने वालों को जन्नत मिलती है। काफिरों को दोजख की आग में जलना पड़ता है। इस प्रकार स्वर्ग-नरक और परलोक की बात मानता इस्लाम भी है। कयामत के दिन पुनर्जन्म की बात भी स्वीकार की जाती है, किंतु इस नए जन्म और मौजूदा जिंदगी के बीच का प्रसुप्तिकाल इतना लंबा बताया जाता है कि उससे **'पुनरपि जननं, पुनरपि मरणं'** वाला अटूट सिलसिला कायम नहीं दीखता और इस प्रकार पुनर्जन्म न मानने जैसी ही मान्यता रूढ़ हो गई है।

अति प्राचीन यूनान में प्रचलित 'उरफिक' नामक धर्ममत के अनुसार व्यक्ति मृत्यु के उपरांत कुछ समय तक दिव्य लोक अथवा प्रेत-लोक में कर्मानुसार रहता है। यह समय भी सबके लिए एक-सा नहीं होता, अपितु कर्मों के अनुसार ही भिन्न-भिन्न होता है।

तदनंतर व्यक्ति का अपने पूर्व-संस्कारों के साथ पुनर्जन्म होता है। दार्शनिक प्लेटो और गणितज्ञ-चिंतक पाइथागोरस आदि इसी मत के अनुयायी थे। इस मत के अनुयायी पुनर्जन्मवादी होने के ही कारण सात्त्विक जीवन पर बल देते थे और मांसाहार नहीं करते थे।

ईसाई मतानुयायी पुनर्जन्म के बारे में इस्लाम जैसी ही मान्यता रखते हैं। उनके अनुसार भविष्य में एक दिन 'लास्ट डे ऑफ जजमेंट' यानी 'न्याय-निर्णय का अंतिम दिन' होगा। उस दिन सभी लोग कब्रों से उठकर ईश्वर के सिंहासन के पास पहुँचेंगे। धार्मिक लोग ईश्वर के दाहिनी ओर रहेंगे और अधार्मिक लोग उनकी बांयी ओर। धार्मिक स्वर्ग पाएँगे, अधार्मिक नरक जाएँगे।

एक छोटी-सी जीवन-अवधि में किए हुए कर्मों से ही अनंतकाल तक सुख या दुःख भोगते रहने की ये मान्यताएँ न तो नैतिकता के युक्तियुक्त आधार प्रस्तुत कर पातीं हैं और न ही पुनर्जन्म का कार्य-कारण-आश्रित कोई तत्त्वज्ञान स्पष्ट कर पातीं हैं। यदि कोई बालक पैदा होकर पाँच मिनट बाद मर गया, तो कयामत के दिन या अतिम निर्णय के दिन उन्हीं पाँच मिनटों के आचरण के अनुसार फैसला करना होगा। उस अवधि में बच्चे को धार्मिक कहा जायेगा या अधार्मिक ? फिर, अनंत काल तक अव्यक्त जीव पाँच मिनट के लिए व्यक्त होकर पुनः कयामत तक के लिए अव्यक्त हो गया, यह बात युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होती।

ईसाइयत और इस्लाम से पूर्व फ्रांस, इंग्लैंड, यूनान, रोम, अरब, ईरान, मिश्र आदि देशों में प्रचलित धर्ममतों की भिन्नता के बावजूद सर्वत्र मृत्यु के बाद, कर्मानुसार फलभोग और पुनर्जन्म की मान्यताएँ थीं, इसके अनेक ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं।

बाइबिल में राजाओं की दूसरी पुस्तक पर्व-२, आयत ८-१५ में कहा गया है—'नबी एलियाह की आत्मा मृत्यु के बाद एलोशा में आ गई। मत्ती-रचित सुसमाचार पर्व ११, आयत १०-१३ के अनुसार

पूर्वजन्म का नबी एलियाह ही नए जीवन में बपतिस्मा देने वाला यूहन्ना हुआ।'

अनेक पाश्चात्य विचारक, कवि, मनीषी पुनर्जन्म का सिद्धांत मानते तो हैं परंतु उन्होंने उसकी विशद् व्याख्या नहीं की है। ईसाई संत पॉल और फ्रेंच धर्मप्रचारक मसिलां पुनर्जन्म-सिद्धांत मानते थे। दार्शनिक-मनोवैज्ञानिक मैक्डूगल और मेक्टेगार्ट की भी पुनर्जन्म में आस्था थी। सर जेम्स फ्रेजर के अनुसार 'सभी आदिम जातियाँ मरणोत्तर जीवन को निश्चयात्मक तथ्य मानती हैं, कोई अस्पष्ट या रहस्यमय कल्पना नहीं।'

प्रख्यात कवि विलियम वर्ड्सवर्थ ने अपनी कविता "इमिटेशन ऑफ इम्मॉर्टेलिटी" में कहा है—'यह आत्मा सुदूर लोक से आयी है।' दूसरे प्रसिद्ध अंग्रेज कवि टेनीसन ने 'टू वॉइसेज' नामक कविता में कहा है, 'यदि मैं निचली योनियों से इस मनुष्य योनि में आया हूँ और मेरे मस्तिष्क में इन जन्मों के संस्कार अंकित हैं, तो भी मैं अपने दुर्भाग्य को विस्मृत कर सकता हूँ।'

खुद ईसाइयों के अनुसार ईसामसीह पिछले जन्म ७ में एलीसियस थे। उनके अवतार की भविष्यवाणी कई सौ वर्ष पहले की जा चुकी थी। बाइबिल के मैथ्यू रचित सुसमाचार (१-२२, २३) के अनुसार वही भविष्यवाणी पूरी हुई और कुमारी के गर्भ से ईसामसीह पैदा हुए तथा लोगों ने उन्हें एमैनुअल कहा।

अमेरिकी कवि वाल्ट ह्विटमैन का कहना था कि, 'निस्संदेह मैं इसके पहले हजार बार पैदा हो चुका और मर चुका हूँ।' दार्शनिक-विचारक ल्यूमिंग और प्रो० हक्सले, दोनों ही देहांतरवाद के सिद्धांत के प्रतिपादक हैं।

दो जन्मों के बीच कितना अंतराल रहता है, इस बारे में कोई भी मत इन विचारकों ने प्रकट नहीं किया है। परंतु पुनर्जन्म में वर्तमान जीवन की आस्थाओं और प्रवृत्तियों का प्रभाव सभी एक स्वर से स्वीकार करते हैं।

थियॉसाफिस्टों के अनुसार मृत्यु के उपरांत व्यक्ति अपनी चेतना के स्तर के अनुसार सात लोकों या सात चेतना-स्तरों में से किसी एक में निवास करता है। उस समय वह 'एस्ट्रल बॉडी' से ही विभिन्न अनुभूतियाँ करता है। संस्कारों के प्रभाव से और उपयुक्त अवसर की प्राप्ति के बाद व्यक्ति का पुनर्जन्म होता है। इसमें सौ या हजार वर्ष से भी अधिक का समय लग जाता है।

आधुनिक परामनोवैज्ञानिकों ने पुनर्जन्म संबंधी जो शोध अध्ययन किए हैं, उनमें भी कुछ पलों से लेकर हजार वर्षों तक के मिले हैं। कोई-कोई तो मृत्यु के कुछ ही पल बाद नये शरीर में प्रविष्ट एवं प्रकट हो गया, कोई अन्य लंबे समय तक अज्ञात लोक में नींद या विश्राम जैसी स्थिति का अनुभव करने के उपरांत पुनः धरती पर प्रकट हुआ।

भारतीय मनीषियों ने पुनर्जन्म के स्वरूप पर विस्तार से विचार किया है। बौद्धों-जैनों समेत सभी भारतीय मतों की पुनर्जन्म में पूर्ण आस्था है। 'जातक कथा' में भगवान् बुद्ध के अनेक जन्मों की कथाएँ हैं। बौद्ध कर्मफल भोग और पुनर्जन्म को निश्चित मानते हैं। निर्वाण प्राप्ति के उपरांत सामान्यतः पुनर्जन्म नहीं होता, किंतु बोधिसत्व विराट् करुणा से द्रवित हो पुनर्जन्म धारण करते हैं।

जैन मत में भी पुनर्जन्म मान्य है। पापियों को नरक में और पुण्यात्माओं को देवलोक में जाना होता है। ७ नरक और १६ स्वर्ग हैं, जो कर्मफल के अनुसार मिलते हैं। वहाँ दुःख या सुख भोगकर, पुनः मध्यलोक या मनुष्य लोक में आना पड़ता है। जो जीव शुद्ध दशा को प्राप्त कर लेता है, वह 'शिवलोक' या 'सिद्धालय' में पहुँचकर आवागमन से मुक्त हो जाता है।

पुनर्जन्म और मोक्ष की धारणा सभी भारतीय धर्ममतों की है। दो जन्मों के बीच के अंतराल के बारे में इनकी दृष्टियों या मान्यताओं को प्रधानतः तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है।

एक प्रतिपादन स्वामी विवेकानंद समेत अनेक विचारकों का है, जिसके अनुसार मृत्यु के उपरांत कुछ समय तक विश्राम की

अवधि रहती है। जैसे गहरी थकान के बाद व्यक्ति को नींद या विश्राम की आवश्यकता होती है। यह अवधि व्यक्ति की अपनी प्रकृति या संस्कार और उसके पुनः शक्ति-संचय की सामर्थ्य के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। इस विश्राम-अवधि के उपरांत जीवात्मा नयी स्फूर्ति, नवीन ताजगी के साथ पुनः अपने संस्कारों के अनुरूप शरीर धारण कर सक्रिय हो जाता है।

दूसरी मान्यता स्वर्ग-नरक से संबद्ध है। जिसके अनुसार मृत्यु के उपरांत शुभ कर्मों के फलभोग हेतु स्वर्ग और अशुभ कर्मों के भोग हेतु नरक वास करना होता है। भोगक्षय के बाद, पुनः कर्मानुसार योनि प्राप्त होती है। पापियों को निचली योनियाँ प्राप्त होती हैं। इस चक्र में भ्रमण करते हुए मनुष्य-योनि के रूप में पुनः अपने स्वतंत्र विकास का अवसर मिलता है। पुण्यात्माओं को स्वर्ग मिलता है। स्वर्गीय सुख भोगने से पुण्यों का क्षय होता है। जब पुण्य चुक जाते हैं, तब फिर मनुष्य-योनि मिलती है। यहाँ जैसा कर्म करेंगे, वैसी अगली गति होगी। पिछले मनुष्य जीवन में अंत तक संस्कारों का जैसा विकास हुआ था, वैसे ही संस्कार नए जन्म में साथ रहते हैं।

तीसरी मान्यता वह है जो बृहदारण्यक उपनिषद् में वर्णित है—

"तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रम-माक्रम्याऽऽत्मानमुपसं हरत्येवमेवायमात्मेद् शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्याऽऽत्मानमुपस हरति।"

(४।४।३)

अर्थात् जैसे जोंक जल में एक तृण के अंत में पहुँचकर, दूसरे तृण पर जाती हुई, पहले तिनके को तब छोड़ती है, जब वह दूसरे तिनके पर पाँव जमा लेती है, इसी प्रकार जीवात्मा इस शरीर को छोड़कर तत्काल ही दूसरे को धारण कर लेता है।

गीता के अनुसार भी व्यक्ति अंत में जिस परिपक्व भाव को स्मरण रखते हुए शरीर छोड़ता है, उसी भाव के अनुरूप नया शरीर

प्राप्त करता है। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र त्यागकर दूसरे नए वस्त्र ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराना शरीर त्यागकर नयी देह धरता है।

इन सब तथ्यों-मान्यताओं का मनन-विश्लेषण इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि दो जन्मों के बीच का अंतराल कितना होगा, इसकी कोई एक ही निश्चित अवधि नहीं है। जब दो व्यक्तियों का यह जीवन एक-सा और एक निश्चित अवधि का ही नहीं होता, तो पुनर्जन्म का भी कोई परिस्थिति-निरपेक्ष मापदंड होना संभव भी नहीं है। जिस प्रकार व्यक्तियों की खुराक अलग-अलग होती है, जरूरतें और रुचियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं, क्रीड़ा, व्यायाम या विद्यार्जन की क्षमताएँ भिन्न-भिन्न होती हैं; दो व्यक्तियों का स्वास्थ्य दोनों द्वारा एक जैसा आहार लेने पर भी, एक-सा नहीं होता। एक-सा जीवन-क्रम अपनाने पर भी दो व्यक्तियों के आरोग्य की स्थिति अलग-अलग हो सकती है। एक ही तप से दो व्यक्तियों के चेहरे, मन, बुद्धि एवं अंतःकरण पर बिल्कुल एक ही प्रभाव नहीं पड़ता। उसी प्रकार दो जन्मों के बीच की अवधि भी सबके लिए एक नहीं हो सकती।

अंतराल की अवधि और अनुभूति, दोनों ही जीवात्मा की मनःस्थिति और परिस्थिति पर निर्भर करती है। अपनी-अपनी आस्थाओं के अनुसार व्यक्ति को अनुभूतियाँ हुआ करती हैं। किसी के अंतर्मन में चित्रगुप्त के निर्णय, लेखा-जोखा, दंड-विधान की बात बैठी है, तो उसे मृत्यु के बाद वही सब अनुभव में आयेगा। किसी दूसरे को गहरी नींद की अनुभूति हो सकती है। उद्देश्य और परिणति दोनों की एक ही है—स्मृति में जमी इच्छाओं-आकांक्षाओं का बोझ उतर जाए और नई स्फूर्ति, नई ताजगी प्राप्त हो जाए। नींद में भी स्वप्न तो आते ही है। स्वर्ग-नरक की अनुभूतियाँ अंतराल की इस विश्राम-अवधि का ही स्वप्न या दिवास्वप्न कही जा सकती हैं।

अपनी आस्था इस जीवन में ही नहीं, परवर्ती जीवन में भी क्रिया और प्रेरणा का आधार बनती है। इसी से श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—

"यों यच्छ्रद्धः स एव सः"

अर्थात् जिसकी अपने प्रति जैसी आस्था—श्रद्धा हुई, वैसा ही उसका व्यक्तित्व होता है।

मृत्यु के बाद की अनुभूतियाँ कैसी होंगी और अगले जन्म का अवसर कब आयेगा, इसकी चिंता में ही मन को दौड़ाने से कोई लाभ नहीं। उससे अधिक ध्यान अपने अंतःकरण के परिष्कार और आस्थाओं के निखार तथा जीवन में उत्कृष्टताओं के समावेश की ओर दिया जाना चाहिए। मरणोत्तर अनुभूतियाँ और अगला जीवन, दोनों ही बिना किसी नियम के यों ही नहीं होते। इस ब्रह्मांड का प्रत्येक क्रियाकलाप सुव्यवस्थित और सुनियोजित है। किसी औंधे-सीधे चमत्कार की कुतूहलप्रिय बाल-कल्पनाएँ न तो इस जीवन में साकार हो पातीं हैं, न ही अगले जीवन में।

साधना, स्वाध्याय, संयम और सेवा के सार्वभौम पुरुषार्थों द्वारा ही यह जीवन भी धन्य बनाया जा सकता है और अगले जीवन की भी श्रेष्ठता के प्रति निश्चिंत रहा जा सकता है। सचमुच मरणोत्तर जीवन कैसा होता होगा ? अगला जन्म कैसा होगा ? यह सब जान सकना भी साधना-विज्ञान के सहारे ही संभव है। अतः आवश्यकता अपने भीतर के उन तत्त्वों को उभारने और बलिष्ठ बनाने की है, जो जीवन में उत्कृष्टता का अभिवर्धन-पोषण करते चलें। उन क्षमताओं को अर्जित किया जाना चाहिए, जो इस जीवन को भी सार्थक बना दें और अगले जीवन की श्रेष्ठता का पथ प्रशस्त कर दें।

❑ ❑

पूर्वजों के प्रति श्रद्धा को क्रिया से जोड़ें

यह सही है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी श्रद्धा-आस्था के अनुसार ही बनता-ढलता रहता है और उसी विनिर्मित व्यक्तित्व का प्रतिफल न केवल इहलोक में अपितु मरणोत्तर अवधि में परलोक में भी प्राप्त करता है। साथ ही जिस प्रकार इस लोक में दूसरों का सहयोग-संबल, श्रद्धा-विश्वास व्यक्ति की प्रगति एवं उत्कर्ष का आधार बनता है, उसी प्रकार परलोक में भी परिजनों का भावात्मक अनुदान जीवात्मा को शक्ति प्रदान करता है।

योगवाशिष्ठ में बताया गया है कि मृत्यु के उपरांत प्रेत यानी मरे हुए जीव अपने बंधु-बांधवों के पिंडदान द्वारा ही अपना शरीर बना हुआ अनुभव करते हैं—

"आदौ मृता वयमिति बुध्यन्ते तदनुक्रमात्।
बंधुपिण्डादिदानेन प्रोत्पन्ना इति वेदिनः।।"

(योगवशिष्ठ ३।५५।२७)

अर्थात् प्रेत अपनी स्थिति को इस प्रकार अनुभव करते हैं कि हम मर गए हैं और अब बंधुओं के पिंडदान से हमारा नया शरीर बना है।

स्पष्ट है कि यह अनुभूति भावात्मक ही होती है। अतः पिंडदान का वास्तविक महत्त्व उससे जुड़ी भावनाओं के ही कारण होता है। जिसके प्रति आत्मीयता होती है, उसके भावात्मक अनुदान से प्रेत प्रभावित होता है, क्योंकि मरणोत्तर जीवन की अनुभूतियाँ वासना और संस्कारों के प्रभाव की ही प्रतिच्छाया होती है। इसलिए जिसमें आत्मीयता का संस्कार अंकित हो, उसकी भावनाएँ परलोकस्थ जीव को प्रभावित करती हैं।

योगवाशिष्ठ के अनुसार मरने के समय प्रत्येक जीव मूर्च्छा का अनुभव करता है। यह मूर्च्छा महाप्रलय की रात्रि के समान होती है। उसके उपरांत प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही अपने स्वप्न और संकल्प के अनुसार अपने परलोक की सृष्टि करता है, यही बात इन श्लोकों में कही गई है—

"मरणादिमयी मूर्च्छा प्रत्येकेनानुभूयते।
यैषा तां विद्धि सुमते महाप्रलययामिनीम्।।
तदंते तनुते सर्गं सर्व एव पृथक्-पृथक्।
सहजस्वप्नसंकल्पान्संभ्रमाचलनृत्यवत्।।"

(योगवाशिष्ठ ३।४०।३१ व ३२)

इसी संदर्भ में आगे बताया गया है—

"स्ववासनानुसारेण प्रेता एतां व्यवस्थितिम्।
मूर्च्छान्तेऽनुभवन्त्यंतः क्रमेणैवाक्रमेण च।।"

(योगवाशिष्ठ ३.५५.२६)

अर्थात् प्रेत अपनी-अपनी वासना के अनुसार ही भावनात्मक उतार-चढ़ावों का अनुभव करते हैं। मरे हुए व्यक्ति की प्रेतावस्था में जिन लोगों से आसक्ति जुड़ी रहती है, उनकी भाव संवेदनाएँ और उनकी परिस्थितियाँ, मनःस्थितियाँ प्रेतों को तीव्रता से प्रभावित करती हैं। पिंडदान और श्राद्धकर्म का महत्त्व यही है कि उन क्रियाओं के साथ-साथ जो भावनाएँ जुड़ी होती हैं, वे प्रेतों-पितरों को स्पर्श करती हैं। इसी प्रकार पितरों के संस्कारों के अनुरूप अपने प्रिय पात्रों की स्थितियाँ उन्हें आंदोलित करती हैं, जिनका यमलोक, यमदूत आदि पर विश्वास है, उन्हें वे उसी रूप में दिखाई पड़ती हैं। जिनकी किसी अन्य प्रकार की आस्था है, उन्हें वैसी अनुभूति होती है—ईसा या जिब्राइल या देवदूत या प्रकाशपिंड या घोर अंधकार आदि के परिदृश्य इसी आधार पर सम्मुख आते हैं।

जिन पितरों की पिंडदान-प्रक्रिया में आस्था होती है, वे उसकी अपेक्षा भी करते हैं और उस अपेक्षा की पूर्ति न होने से उन्हें क्लेश का अनुभव भी होता है।

'रघुवंश' में कालिदास ने राजा दिलीप के पितरों की इसी अनुभूति को व्यक्त किया है। दिलीप के संतान नहीं थी। स्वयं राजा दिलीप तो पितरों को श्राद्ध पक्ष एवं श्राद्ध पर्वों पर नियमपूर्वक पिंडदान देते थे, किंतु उनके संतान थी नहीं। अतः दिलीप की मृत्यु के बाद अपने लिए पिंडदान की परंपरा लुप्त हो जाने की आशंका उनके पितरों को होने लगी थी। इसी का वर्णन कालिदास ने किया है। उन्होंने रघुवंश में दिलीप को अपने गुरु वशिष्ठ से कहते हुए बतलाया है—

नूनं मत्तः पर वंश्याः पिण्डविच्छेददर्शिनः।
न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधासंग्रहतत्पराः।।

(रघुवंश १।६६)

अर्थात् हे गुरुवर ! मेरे बाद पिंड का लोप देखने वाले, स्वधा इकट्ठी करने में लगे हुए मेरे पूर्वज, श्राद्ध में इच्छापूर्वक भोजन के लिए उत्साह नहीं कर रहे हैं।'

अर्थात् "मुझे पुत्र रहित देखकर मेरे बाद उन्हें पिंडदान प्राप्त होना संभव न होगा, ऐसी चिंता में डूबे पितर मेरे द्वारा किए जाने वाले श्राद्ध कर्म के प्रति पर्याप्त उत्साह नहीं रख पा रहे।"

पुत्र-प्राप्ति के आकांक्षी दिलीप ने पितरों की अपेक्षा का वर्णन करते हुए आगे कहा—

मत्परं दुर्लभं मत्वा नूनमावर्जितं मया।
पयः पूर्वैः स्वनिःश्वासैः कवोष्णमुपभुज्यते।।

(१।६७)

मैं जो श्राद्ध-तर्पण करता हूँ, उस तर्पण-जल से मेरे पितर आंतरिक शीतलता का समुचित अनुभव नहीं कर पाते। यह सोचकर कि मेरे बाद तो यह जल दुर्बल ही हो जायेगा, वे जो दुःख

भरे निःश्वास छोड़ते हैं, उसकी दाहकता मानो उस तर्पण-सलिल को कुछ गरम कर देती है।

इस कथन से स्पष्ट होता है कि परलोक स्थित पितृगणों का अपने परिजनों से आत्मीयतापूर्ण लगाव होता है और उनसे वे अपेक्षाएँ भी रखते हैं। अपेक्षाओं की पूर्ति से उन्हें प्रसन्नता तथा अपेक्षाएँ अपूर्ण रहने या उनके विपरीत आचरण होने पर विकलता, शोक, संताप की अनुभूतियाँ होती हैं।

ऐसा नहीं है कि पितर चौबीसों घंटे घर-परिवार के आसपास ही मँडराते रहते हों तथा और कोई भी काम नहीं करते हों। वे अपने संस्कारों और आकांक्षाओं के अनुरूप भाव-लोक में रहते और विविध प्रकार की अनुभूतियाँ करते हैं। साथ ही अपनी आसक्ति के ही कारण वे पूर्व के घर-परिवार की भी परिक्रमा कर जाते हैं। इस आने-जाने से उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती, क्योंकि यह सारी यात्रा संकल्पात्मक मन ही करता है। अतः परिजनों के भावों तथा स्थितियों के प्रवाह से वे परिचित रहते हैं। इसी प्रकार वे भावनाएँ-संवेदनाएँ जो पूर्वजों को लक्ष्य रखकर उत्पन्न होती तथा अभिव्यक्त होती हैं, सूक्ष्म कंपनों के रूप में वातावरण में फैल जाती हैं तथा उन पितरों-पूर्वजों तक पहुँच जाती हैं जिनका लगाव अभी भी अपने मृत्यु पूर्व के कुटुंबियों से होता है। जिन पूर्वजों की संसक्ति उन पहले के रिश्तों के प्रति समाप्त हो चुकी होती है, उन तक न तो इन भाव-संवेदनाओं का ही कोई प्रभाव पहुँचता है; न ही उन्हें उन लोगों की, जो कभी उनके परिजन थे—चिंता ही रहती, पर ऐसे मुक्त स्वभाव लोग थोड़े ही होते हैं और पूर्वकृत क्रियाओं-इच्छाओं के प्रभाव से मुक्त आत्माएँ नया जन्म भी ग्रहण कर चुकी होती हैं। अतः पितर नहीं रह जातीं। वे तो किसी के घर में, आँगन में किलकारी भर रही होती हैं या वयस्क होकर अपने दायित्व निभा रही होती है, उनकी बात ही भिन्न है। किंतु परिजनों के प्रति ममत्व-शेष पितरों को अपेक्षाएँ भी रहती हैं और रुचि भी रहती है। रुचि रखने के कारण वे अदृश्य सहायकों के रूप में काम

करते हैं। ऐसों की अपेक्षाओं की पूर्ति प्रत्येक का कर्तव्य है। यह अपेक्षा-पूर्ति करना ही श्राद्ध-कर्म है।

○ श्राद्ध और तर्पण

भारतीय संस्कृति और हिंदू धर्म में श्राद्ध का अपना विशेष स्थान है। श्राद्ध शब्द श्रद्धा से बना है और उसी से उसके गुप्त तात्पर्य पर प्रकाश पड़ता है। सत्कर्मों के लिए, सत्पुरुषों के लिए आदर की, कृतज्ञता की भावना रखना श्रद्धा कहलाता है। जिस व्यक्ति ने हमारे साथ उपकार किया है, हम उसका श्रद्धा सहित स्मरण करते हैं। इस स्मरण में भजन-पूजन के साथ-साथ भोजन की व्यवस्था भी रहती है। यह सम्मिलित रूप श्राद्ध कहलाता है। श्राद्ध एक प्रकार से मृत पूज्य व्यक्तियों के प्रति कृतज्ञता की भावना स्पष्ट करना है। गुरुजनों के चरण स्पर्श, अभिनंदन, सेवा आदि भावों की वृद्धि हमारे यहाँ महत्त्वपूर्ण मानी गई है। जब तक गुरुजन रहें, उनके प्रति कृतज्ञता चलती रहती है, स्वर्गवास हो जाने के पश्चात् भी यही श्रद्धा कायम रहनी चाहिए। इस दृष्टि से मृत्यु के पश्चात् पितृ पक्ष में, मृत्यु की वर्ष तिथि के दिन, पर्व-समारोहों पर श्राद्ध करने का श्रुति-स्मृतियों में विधान पाया जाता है। नित्य की संध्या के साथ तर्पण जुड़ा हुआ है। जल की एक अंजलि कृतज्ञता के भाव से भरकर हम स्वर्गीय पितृ-देवों के चरणों में उसे अर्पित कर देते हैं। इस प्रकार श्रद्धा, प्रेम, कृतज्ञता, अभिनंदन सभी का मिश्रित रूप हमारे श्राद्ध हैं।

श्राद्धों के द्वारा हमारी संस्कृति ने श्रद्धा-तत्त्व को जीवित रखने का प्रयत्न किया है। जीवित पितरों को हम सेवा-पूजा आराधना से प्रसन्न कर लेते हैं, पर स्वर्गीय पितरों को कृतज्ञता प्रकट करने का यही उपाय है। हिंदू श्राद्ध करके ही मृतकों के उपकार, प्रेम, आत्मीयता से कृतज्ञ हो जाता है।

हिंदू-संस्कृति की उदारता महान् है। उसमें संकीर्णता कहीं नहीं है। कर्मकांडों में आधे से अधिक श्राद्धतत्त्व भरा पड़ा है। सूर्य,

चंद्र, ग्रह, नक्षत्र, पृथ्वी, अग्नि, जल, कुआँ, तालाब, नदी, मरघट, खेत, खलिहान, चक्की, चूल्हा, तलवार, कलम, जेवर, रुपया, घड़ा, पुस्तक आदि निर्जीव पदार्थों तक के प्रति हम अपनी श्रद्धा और कृतज्ञता प्रकट करते हैं। विवाह-संस्कारों के अवसरों पर नाली या घूरे तक की पूजा होती है। वृक्षों में तुलसी, पीपल, बड़, आँवला आदि तथा पशुओं में गौ, बैल, घोड़ा, हाथी तक पूजे जाते हैं।

श्राद्ध किस तत्त्व पर टिका है ? शरीर के नष्ट हो जाने पर भी जीव का अस्तित्व नहीं मिटता। वह सूक्ष्म रूप में हमारे चारों ओर वातावरण में घूमते रहते हैं। जीव का फिर भी अपने परिवार के प्रति कुछ न कुछ ममत्व रह जाता है। सूक्ष्म आत्माएँ आसानी से सब लोकों से आकर हमारे चारों ओर चक्कर लगाया करती हैं। हमारे विचार और भावनाएँ सूक्ष्म वातावरण में फैलते हैं। इन्हें हम जिस तेजी से बाहर के वातावरण में फेंकते हैं, ये उसी गति से दूर-दूर तक फैल जाते हैं। अतः श्राद्ध में प्रकट किए गए पूर्वजों के प्रति हमारे आत्मीयता, सद्भावना, कृतज्ञता के भाव उन आत्माओं के पास पहुँच जाते हैं। उसे इनसे सुख, शांति, प्रसन्नता और स्वस्थता मिलती है।

इसी प्रकार तर्पण का वह जल पितरों के चरणों में एक प्रकार की श्रद्धांजलि माना गया है। यद्यपि यह जल तो यहीं गिर जाता है, पर जल ग्रहण करते समय हमारे मन में जो पवित्र कृतज्ञता के भाव आते हैं, उनका बड़ा महत्त्व है। हमारे मन की संकीर्णता, दुष्टता, ईर्ष्या, द्वेष आदि दूषित तमोगुणी नीच भावनाएँ नष्ट होती हैं और प्रेम, त्याग, कृतज्ञता के भाव फैलते हैं। मन में पितरों की उपकारमयी, स्नेहमयी देवोपम मूर्तियाँ आती हैं। सद्विचार को अनुकूल बनाना ही पुरुषार्थ है। अभ्यास से विचार अनुकूल या प्रतिकूल बनते हैं। जो पुरुष जिस प्रकार के विचार बार-बार मन में लाता है, वह उसी प्रकार का स्वयं बनता है। श्राद्ध और तर्पण में कृतज्ञता, उपकार, प्रेम, त्याग आदि की सद्भावनाएँ हमारे मन में आती हैं और हमें सुख-संतोष प्राप्त होता है। कृतज्ञता

से इच्छाशक्ति बलवान् बनती है। श्रद्धा की भावना बढ़ती जाती है। सात्त्विक, परमार्थिक और धार्मिक दृष्टिकोण से हमारी उच्च वृत्तियाँ पनपती हैं। प्रतिवर्ष श्राद्ध हमें याद दिलाते हैं कि हमारे जो उपकारी पूजनीय एवं आत्मीय पुरुष स्वर्ग सिधार गए हैं, उनके प्रति कृतज्ञता की भावना रहना और प्रकट करना चाहिए।

पुत्र शब्द का अर्थ यह भी बताया जाता है कि जो पुरखों का नरक से त्राण करे, वह पुत्र। गरुड़ पुराण में कहा गया है—

"नरकात्पितरं त्रायेत् तेन पुत्र इति स्मृतः।।"

(प्रेतकल्प ३४। ६)

अर्थात् नरक से पितरों को उबारता है, इसलिए उसे पुत्र कहा गया है। आगे कहा गया है—

"दह्यमानस्य प्रेतस्य स्वजनैर्योजलाञ्जलिः।
दीयते प्रीतिरूपोऽसौ प्रेतो याति यमालयम्।।"

(प्रेतकल्प ३४। ११)

अर्थात् दाह किए गए पितरों के स्वजन उसे जो भावनापूर्ण जलांजलि देते हैं, उससे उन्हें आत्मिक शांति मिलती है और प्रसन्न होकर वे उच्चस्थ लोकों को गमन करते हैं।

धर्म की गति सूक्ष्म कही गई है। अतः श्रद्धाकर्म के संस्कारों का सूक्ष्म निहितार्थ समझना ही धर्म है। स्थूल के अर्थ मात्र का ग्रहण भ्रांति है। मात्र स्थूल कर्मकांडों से आत्मा का परलोक में कल्याण होना असंभव है, क्योंकि स्थूल वस्तुएँ वहाँ तक पहुँच सकने का प्रश्न ही नहीं और फिर वस्तुओं से तो इस लोक में भी किसी की तृप्ति नहीं होती। अधिकाधिक अतृप्ति ही बढ़ती है। अतः पूर्वजों के नाम पर कुछ वस्तुएँ किसी कर्मकांड के साथ अर्पित कर देने भर से उनके तृप्त होने की विचित्र कल्पना करने के स्थान पर उनके प्रति सच्ची श्रद्धा भावना द्वारा ही उन्हें भावनात्मक तृप्ति पहुँचाने का प्रयास उचित है।

○ छोड़े हुए उत्तरदायित्व पूरे करें

पितरों को तृप्त कर सकने में समर्थ वास्तविक श्राद्धकर्म वह है, जो उनके छोड़े हुए उत्तरदायित्व को पूरा करने वाला हो। श्राद्ध की सही पृष्ठभूमि यही है।

मरने के उपरांत प्रत्येक जीव एक विश्राम निद्रा में कुछ समय के लिए चला जाता है। यदि अंतःकरण शांत और संतुलित हुआ तो उस स्थिति में सुसंस्कारों की प्रतिक्रिया स्वर्गीय सुखानुभूति जैसी होती रहती है। यदि जीवन कुमार्गगामी चिंतन तथा क्रियाकलाप में बीता है तो उस अवधि में डरावने नारकीय दृश्य दीखते रहेंगे और वैसी ही कष्टकारक अनुभूति होती रहेगी। मृत्यु और नवीन जन्म के बीच में जो थोड़ा अवकाश मिलता है, उसमें आत्मा को यही स्वप्न दिखाई देते रहते हैं। इन्हें ही परलोक गत स्वर्ग-नरक कहा जा सकता है। स्वर्गीय दृश्य देखकर सुखद-संतुष्ट निद्रा पूरी करके जगा हुआ जीव ताजगी और स्फूर्ति लिए होता है और नवीन जन्म में प्रगतिशील मनःस्थिति तथा परिस्थिति प्राप्त करता है। इसके विपरीत नरक के दृश्यों से डरता, काँपता, आधा-अधूरा विश्राम लेकर नए शरीर में प्रवेश हुआ प्राणी मंद बुद्धि, कुसंस्कारों एवं हीन व्यक्तित्व का होता है, वैसे ही घटिया वातावरण में उसे जन्म भी मिलता है। स्वर्ग-नरक और पुनर्जन्म में कैसी अनुभूति मिलेगी ? कैसी स्थिति रहेगी ? यहजानने के लिए किसी व्यक्ति का जीवन-क्रम किस प्रकार व्यतीत हुआ है, इसे देखना होगा।

उस अवधि के अनुभवों का मुख्य आधार तो प्रत्येक व्यक्ति के स्वयं के संचित कर्म-संस्कार ही होते हैं, किंतु परिजनों का भी उसमें योगदान हो सकता है। स्वप्न संवेदन भी आकस्मिक और अकारण नहीं होते। उसी प्रकार विश्राम की इस अवधि की अनुभूतियाँ भी सकारण और क्रमबद्ध होती हैं। अपने सद्भावनाओं, सत्प्रयासों से पूर्वजों की अनुभूतियों को सुखद बनाना प्रत्येक परिजन का कर्तव्य है। इस कर्तव्य की पूर्ति ही श्राद्ध कर्म है।

पितरों का कल्याण चाहने वाली संतान को उनके प्रति श्रद्धा को सक्रिय आचरण से जोड़ना चाहिए। यही सच्चा श्राद्ध-संस्कार है, ताकि विश्राम की अवधि में पितर गहरी-मीठी नींद और सुंदर, शुभ सपने ले सकें और नई ताजगी, नई स्फूर्ति प्राप्त कर सकें।

मृत्यु जीवनावस्था का रूपांतर मात्र है। व्यक्ति-चेतना अक्षय-अविनाशी विराट् ब्रह्म-चेतना का ही अंश है, अतः अविनाशी है। संस्कारों-वासनाओं तथा सृष्टि के अटल नियमों के अनुसार ही व्यक्ति की स्थिति, गति तथा परिणति होती रहती है। अतः जीवन और मृत्यु के सही स्वरूप को समझने तथा तदनुसार सदैव स्वधर्म-आचरण करने में ही मनुष्य-जीवन की सार्थकता है। मृत्यु के लिए शोक करने जैसी कहीं कोई भी बात नहीं है। वह तो एक अनिवार्य, सुनिश्चित और सुंदर घटनाक्रम है। उसे भव्य, सार्थक, गरिमामंडित और शांतिपूर्ण बनाने में ही बुद्धिमानी है, ताकि वह शक्ति, स्फूर्ति, ताजगी और संतोष देने वाली विश्राम-अवधि सिद्ध हो तथा अगली यात्रा का आरंभ उत्साह के साथ हो सके।

❐ ❐

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा